

गद्य-लेखक रामचन्द्र शुक्ल

(प्राचार्य शुक्ल के दार्शनिक व साहित्यिक मन्तव्यों
उनके गद्य साहित्य का विशद विवेचन)

लेखक

बलदेवकृष्ण शास्त्री एम० ए०

प्रथम हिन्दी विभाग

बेधवन्दु कॉलेज (साय्य)

कानकाजी नई दिल्ली

ओरिएण्टल बुक डिपो

१७०४, नई सड़क दिल्ली

प्रकाशक
घोरिएण्डल बुक डिपो
१७ ४ नई सड़क दिल्ली

प्रथम संस्करण
बैशाखी म २ १६

मूल्य चार रुपये

बुकर
दिल्ली प्रिंटिंग प्रेस
दिल्लीपत्र करीम रोड दिल्ली

दो शब्द

सन् १९५४ में मुझ पंजाब विद्वत्विद्यालय के सैन्य कालिदास नहीं बिल्ली में एम० ए० (हिन्दी) के छात्रों को पढ़ाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय मैंने श्री रामचन्द्र शुक्ल के गद्य साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया और मैं उनके दार्शनिक व साहित्यिक मन्तव्यों का संकलन व विश्लेषण की और बड़ी उत्प्रेरणा से समझ हुआ। उस समय मैंने यह धनुष्य साहित्यिक मन्तव्यों के समझ में कुछ कठिनाई का अनुभव करते हैं, फलतः मैंने यह धनुष्य किया कि धार्याय्य शुक्ल के साहित्य के अध्यापन के लिए ऐसी पद्धति का अनुसरण किया जाए जिससे कि छात्रों को बचि उनके गद्य-साहित्य के प्रति विद्यमान रहे। मैंने उनकी साहित्यिक विशेषताओं तथा मन्तव्यों के बिस्लेषण के लिए सरस पद्धति का प्रत्येक में तथा उसके प्रयोग करने में भार बर्ष व्यतीत किये। उसी प्रयास को ध्याय 'गद्य लेखक रामचन्द्र शुक्ल' नामक पुस्तक के रूप में साकार होता देखकर मुझे हादिक सन्तोष की धनुष्यि हो रही है।

इस पुस्तक में मैंने सर्वप्रथम धार्याय्य शुक्ल का व्यक्तित्व को स्पष्ट करने का यत्न किया है। उनके जीवन सम्बन्धी इतिवृत्त का सामान्य उल्लेख करके उनके साहित्यिक व्यक्तित्व पर पूरा प्रकाश डालने का उपक्रम इसमें किया गया है। दूसरे प्रकरण में उनकी विभिन्न रचनाओं के धार्याय्य पर उनके दार्शनिक मन्तव्यों—धार्याय्य ईश्वर, जीव प्रकृति तथा मानव जीवन सम्बन्धी धार्याय्यों को सुबिस्तुत रूप में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। अपने कथन का समर्थन करने के लिए शुक्लजी के मन्तव्यों में प्रासंगिक उद्धरण प्रस्तुत कर बिये गए हैं। इसी प्रसंग में उनके भाष्यता सम्बन्धी

विचारों को भी विम्वल कर दिया गया है और साथ ही उनके मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों का प्रकाशमय में छायांश भी प्रस्तुत कर दिया गया है। उनके जीवन-दर्शन पर प्रकाश डालने हुए, धर्म-अधर्म साधारण धर्म, विशेष धर्म तथा मोक्षधर्म सम्बन्धी उनकी धारणाओं को भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादित कर दिया गया है। मुक्ति स्वयं तथा अरुण सम्बन्धी मानव के धारण प्रसों के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण को संतोष से प्रस्तुत करके उनके द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मदर्शन के उपाय का भी विस्तृत विवरण कर दिया गया है।

इसी प्रकार तीसरे प्रकरण में छुल्लजी के नाहित्यिक मन्तव्यों को भी पूर्ण विस्तार के साथ स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। सर्वप्रथम उन मन्तव्यों के साधारण को स्पष्ट करने के द्वारा स्वीकृत काव्य रचना की विचार तथा प्रमत्त विवेचना कर दी गई है। कवि पात्र भोगा सम्बन्धी उनकी धारणाओं को स्पष्ट करने के उपरान्त काव्य में कविता होने वाले जगत् भोग जीवन की चर्चा भी कर दी गई है। इसी प्रसंग में काव्य स्वरूप का उद्घाटन करते बाकी अनुभूति में बुद्धि के योग को तथा काव्यानुभूति के स्वरूप को भी बड़े विस्तार के साथ निरदिष्ट कर दिया गया है। प्रमत्तता सौन्दर्यानुभूति रश्म्यानुभूति स्वल्प बोध के सम्बन्ध में छुल्लजी की मान्यताओं का विवरण भी यथोचित रीति में सम्पन्न हो गया है। काव्य की धारणा तथा धारित सम्बन्धी धारणाओं की चर्चा करके उनकी दृष्टि के अनुसार काव्य के अर्थ तथा परिभाषा की विचार व्यक्तियाँ भी कर दी गई है। काव्य के अर्थ की चर्चा करते हुए भावों की रसायनों के सम्बन्ध में उनकी मूल्य उद्घाटना को प्रस्तुत कर दिया गया है। इसी प्रसंग में आदिके मध्यम अर्थ धारित की तथा आर्षात्म रसायन-सञ्चारी भाव-व्यवस्था की भीर्नाया भी कर दी गई है। इस रसायन के सम्बन्ध में उनकी धारणाओं का उपाय का हुए साधारणोक्तय विचारों की विवरण कर दी गई है और साथ ही रसायन की धारणा की चर्चा भी प्रमत्तता हो गई है। इसी प्रकार बुद्धिगत रश्म्यानुभूति धर्मोक्तय के सम्बन्ध में उनकी धारणाओं पर पूर्ण प्रकाश

ज्ञानने का सत्प्रयास किया गया है। इसी प्रसंग में अग्निषा सज्ञाया तथा व्यंजना की चर्चा हो गई है। काव्य में धर्मकारों के स्वान व महत्त्व को उनकी चारणा के अनुसार स्पष्ट करने का यत्न किया गया है। काव्य के येषों की चर्चा करते हुए उनकी कविता सम्बन्धी माग्यताओं का सुविस्तृत विवेचन कर लिया गया है। माघ ही काव्य क्षेत्र में प्रचलित नवीन चार्यों—कल्पनाबाह, रस्यबाह, प्रतीकबाह, कल्पनाबाह, ध्यायाबाह अग्निष्य जनाबाह—के सम्बन्ध में उनके बुद्धिबोध को मसी भाँति स्पष्ट करने का यत्न किया गया है।

बीने प्रकरण म पुष्पजी की धामोचना-पद्धति की मीमांसा की गई है। सर्वप्रथम समालोचना के स्वरूप को स्पष्ट करने का यत्न किया गया है। तदनन्तर उनके समीक्षाकारों की चर्चा कर दी गई है। फिर इन धारणों की चरितावता उनके समीक्षा साहित्य में प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है। इस सम्बन्ध में उनके समीक्षा ग्रन्थों—गोस्वामी तुलसीदास मूरबाह तथा जामश्री प्रन्थावली की भूमिका की सामान्य चर्चा कर दी गई है। पाँचवें प्रकरण में पुष्पजी के रचनात्मक साहित्य की विवेचना की गई है। सर्वप्रथम उनके निबन्धों का बर्गीकरण कर दिया गया है। तदनन्तर उनके निबन्ध-स्वरूप को तथा उन निबन्धा की विशेषताओं को यथोचित विस्तार के साथ क्रम-क्रम-विम्वस्त कर दिया गया है। उनके निबन्धों में व्याप्त बुद्धि तत्त्व भाषनत्त्व मीतिवाहिला शास्त्रीयता मौलिकता भारतीयता निय यत्न एवं व्याख्यात्मक पद्धति समाम र्हीसो पर पूर्ण प्रकाश डालकर उनकी यद्यभाया के स्वरूप का उल्लस भा यथोचित रीति से कर दिया गया है। तद नन्तर उनके हिन्दी साहित्य के इतिहास की चर्चा कर दी गई है। इस इति हास के धर्मगत साहित्यिकता के धर्म को तर्क के आधार पर निरिष्ट करने का प्रयास किया गया है। इसी प्रसंग में पुष्पजी के पद्यानुवाचों की भी चर्चा कर दी गई है। निबन्धप्रपञ्च कल्पना का धामन्ट, तथा शमाक का विनोयतया उल्लेख कर दिया गया है। 'धामाक' के प्रसंग में हिन्दी यद्य के विचाम में पुष्पजी की रैन का स्पष्ट संकेत कर दिया गया है। उनकी यद्य-

विचारों को भी विव्यस्त कर दिया गया है और साथ ही उनके मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों का प्रकारान्तर से सारांश भी प्रस्तुत कर दिया गया है। उनके जीवन-दर्शन पर प्रकाश डालते हुए, धर्म-व्यवर्धन साधारण धर्म, विशेष धर्म तथा मोक्षधर्म सम्बन्धी उनकी बारबाधों को भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादित कर दिया गया है। मुक्ति स्वर्ग तथा नरक सम्बन्धी मानव के धारण्य प्रसंगों के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण को संक्षेप से प्रस्तुत करके उनके द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मवर्धन के उपाय का भी विस्तार निरूपण कर दिया गया है।

इसी प्रकार तीसरे प्रकार में गुणज्ञी के साहित्यिक मन्थनों को भी पूर्ण विस्तार के साथ स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। सर्वप्रथम उन मन्थनों के प्राप्ति को स्पष्ट करके उनके द्वारा स्वीकृत काव्य स्वरूप की विचार तथा क्रमशः विवेचना कर ली गई है। कवि पाठ भोग सम्बन्धी उनकी बारबाधों को स्पष्ट करने के उपरान्त काव्य में बहिष्ठ होने वाले अथवा और जीवन की चर्चा भी कर ली गई है। उसी प्रसंग में काव्य स्वरूप का उद्घाटन करने वाली अनुमृति में बुद्धि के योग को तथा काव्यानुमृति के स्वरूप को भी बड़े विस्तार के साथ निरिष्ट कर दिया गया है। प्रत्यक्ष सीन्धर्मानुमृति एस्वानुमृति स्वप्न बोध के सम्बन्ध में गुणज्ञी की मान्यताओं का निरूपण भी यथोचित रीति में सम्पन्न हो गया है। काव्य की धारणा तथा शरीर सम्बन्धी बारबाधों की चर्चा करके उनकी दृष्टि के अनुसार काव्य के लक्ष्य तथा परिभाषा की विचार व्याख्या भी कर ली गई है। काव्य के लक्ष्यों की चर्चा करते हुए भाषों की बसाधों के सम्बन्ध में उनकी नवीन उद्घाटना की प्रकट कर दिया गया है। इसी अन्त में भाषा के लक्षण और धारि की तथा प्राचीन स्वाधी-नकारी भाषा-व्यवस्था की सीमांता भी कर ली गई है। उन रसा के सम्बन्ध में उनकी बारबाधों का उल्लेख करते हुए साधारण्यकरण निदान की विवेचना कर ली गई है और साथ ही रस रसा की कोटियों की चर्चा भी प्रसंगवत्त हो गई है। इसी प्रकार बुद्धितत्त्व मनसाधरक धीसीतत्त्व के सम्बन्ध में उनकी बारबाधों पर पूर्ण प्रकाश

शास्त्रों का सत्यमास किया गया है। इसी प्रसंग में अग्निबा सततता तथा व्यंग्यता की बर्णा हो गई है। काव्य में धर्मकारों के स्वान व महत्त्व को उनकी धारणा के अनुसार स्पष्ट करने का यत्न किया गया है। काव्य के चेतों की बर्णा करते हुए उनकी कविता सम्बन्धी भावनाओं का मुक्तिस्तुत विवेचन कर दिया गया है। साथ ही काव्य क्षेत्र में प्रचलित मधीन भावों—छन्दसाधार प्रतीकवाद कल्पनावाद ध्यानाधार धर्मिक्यतावाद—के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण को बसी भाँति स्पष्ट करने का यत्न किया गया है।

दोसरे प्रकरण में मुक्तजी की धामोचना-पद्धति की सीमांसा की गई है। सर्वप्रथम धामोचना के स्वरूप को स्पष्ट करने का यत्न किया गया है तदनन्तर उनके समीक्षादृष्टियों की बर्णा कर दी गई है। फिर इन धारणों की बरिवाचता उनके समीक्षा साहित्य में प्रबधित करने का प्रयास किया गया है। इस सम्बन्ध में उनके समीक्षा धर्मों—पोस्वामी तुमसीदास बुरदास तथा बायसी धन्नाबली की सूमिका की सामान्य बर्णा कर दी गई है। सर्वप्रथम उनके मुक्तजी के रचनात्मक साहित्य की विवेचना की गई है। निबन्ध-स्वरूप को तथा उन निबन्धों की विधेयताओं को यथोचित विस्तार के साथ क्रमशः विम्वस्त कर दिया गया है। उनके निबन्धों में व्याप्त बुद्धि तथा भावतत्त्व मीतिबाधिता धास्नीयता मीतिकता भारतीयता नियमन एवं व्याप्यारमक पद्धति समाम धैली पर पूर्ण प्रकाश डालकर उनकी बधमाया के स्वरूप का उल्लेख भी यथोचित रीति से कर दिया गया है। तदनन्तर उनके हिन्दी साहित्य के इतिहास की बर्णा कर दी गई है। इस इतिहास के प्रत्ययत साहित्यिकता के बंध को तर्क के धाधार पर निदिएट करने का प्रयास किया गया है। इसी प्रसंग में मुक्तजी के गद्यानुवाचों की भी बर्णा कर दी गई है। निबन्धप्रबंध कल्पना का धामन्व तथा ध्याक का विधेयतया उल्लेख कर दिया गया है। 'गद्यांश' के प्रसंग में हिन्दी गद्य के विकास म मुक्तजी की दैन का स्पष्ट सकेत कर दिया गया है। उनकी गद्य

जाया पर भी संक्षिप्त रूप से विचार इस प्रसंग में हो गया है ।

इस प्रकार मुक्तजी के धार्मिक तथा साहित्यकार रूप की विषय विवेचना करने के उपरान्त अन्तिम प्रकरण में उनके स्वाम व महत्व को स्पष्ट करने के लिए आधुनिक धर्मोपदेश की उक्तियाँ संक्षेप से प्रस्तुत कर दी गई हैं । यह बल किताब नामा है कि मुक्तजी के सम्बन्ध में हिन्दी समाजोपदेश-सेवा में व्याप्त विरोधी-अविरोधी बालशास्त्रों से छात्रों को सामान्य परिचय हो जाए । जिन समीक्षक महोदयों की चर्चा इस प्रकरण में की गई है मेरे हृदय में उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा विद्यमान है । यदि कहीं मतभेद भी प्रदर्शित करने का प्रयत्न या अप्रयत्न रीति में प्रयास किया गया है वह केवल मुक्तजी के मतभेदों को स्पष्ट करने की दृष्टि से किया गया है ।

घामा है कि मरा यह प्रयास धार्मिक मुक्तजी के पाठकों के लिए विशेष उपयोगी प्रमाणित होगा । निस्सन्देह मुक्तजी पर अनेक ग्रन्थ व लेख इससे पूर्व लिखे जा चुके हैं । मेरा प्रयास सबका नवीन तथा मौलिक नहीं तथापि मुक्तजी के धार्मिक तथा साहित्यकार के रूप को स्पष्ट करने में इसमें किस पद्धति का अनुसरण किया गया है वह मेरी अपनी है मौलिक है तथा अनुभवप्रसूत है । अपने छात्रों की इसी पद्धति से पढ़ाते हुए मैंने इसकी उपयोगिता अनुभव की है । अतएव आज इसे पुस्तक के रूप में प्रस्तुत करने का मैंने यह सत्साहस किया है । यदि मरा यह प्रयास धार्मिक मुक्त के पाठकों में रुचि उत्पन्न कर सका तो मैं अपने-आपको बह्य सन्तुष्टि ।

लिखक

विषय सूची

क्रम	विषय	पृष्ठांक
१	भाचार्य शुक्ल का व्यक्तित्व	१
२	शुक्ल जी के शारीरिक मन्तव्य	१६
३	शुक्ल जी के साहित्यिक मन्तव्य	६२
४	शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति	१६४
५	शुक्ल जी का रचनात्मक साहित्य	२३
६	भाचार्य शुक्ल तथा आलोचकों की दृष्टि में	२२७

करना होना जिससे उनका साहित्य-कृत व्यक्तित्व हो रहा है ।

व्यक्ति का ज्ञान केन्द्र बनने समुचित विकास के लिए वास्तविक परिस्थितियों पर निर्भर रहता है । उसकी नैसर्गिक प्रतिभा विभिन्न अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों का प्रभम पाकर ही विकसित होती है । इस तथ्य के अनुसार हम यह कह सकते हैं कि सुकन्या के साहित्यिक-व्यक्तित्व के निर्माण में उनकी नैसर्गिक जीवन सम्बन्धी परिस्थितियों का पूरा हाथ है । यद्यपि सुकन्या के नैसर्गिक जीवन की स्त्री के वर्णन करना भी निताम्ब उपादेय है ।

जन्म-कृत क्लृप्त परिचय—भारत के समुदाय प्रान्त में सुकन्या का जन्म की हिन्दू-समाज में नीरवपूर्व स्थापित प्राप्त है । इसी कृत में जन्म ग्रहण करने के कारण भी रामचन्द्र सुकन्या कभी हीन भावना के सिकार नहीं हुए, परन्तु पारिवारिक परिस्थितियाँ इनकी अपनी नैसर्गिक प्रतिभा एक प्रभुति के अनु रूप नहीं हो सकी । पारिवारिक दृष्टि से तो उनके पूर्वज सामान्यतया सम्पन्न रहे जा सकते हैं । उनके पितामह भी पिम्बटल सुकन्या पौरखपुर जिसे मैं पकती नगी के किलारे मेड़ी नामक गाँव में रहते थे और कभी-कभी बस्ती जिसे के अन्तर्गत नगर-रिवासत के राज परिवार में सम्मिलित हुआ करते थे । नगर-रिवासत की रानी उनकी बादी को अपनी बर्मपुत्री समझती थी इसीलिए उनके पितामह के छोटी मायु में ही परभोक सिंघारने के पश्चात् उनकी बादी नगर की रानी के पास जाकर रहने लगी । जयारहूदया रानी ने नगर के पास ही समोना नामक गाँव में उनकी बादी को कुछ भूमि दे ही तब निवास के मोक्ष मचन भी बनवा दिया । उनके पिता चन्द्रवती सुकन्या कभी पानन-नोपय सुविधाजनक परिस्थितियों में हुआ । पिला-बीसा में भ्रम विरोध कटिनाई नहीं हुई । जर्दू-कारनी की उत्तम पिला प्रान्त करके वे उच्च शिक्षा के लिए काशी के कबीर कानिबिएट स्कूल में प्रविष्ट हो गए थी नैटिक पास करके वे सरकारी नौकर हो गए । इसी समय जयोल्ला नामा गाँव में विक्रमी सन् १९४१ तकनुसार सन् १९५४ में पारिविक पूर्विका । पृथ विन रामचन्द्र सुकन्या का जन्म हुआ ।

प्रारम्भिक जीवन—चार वर्ष की आयु तक उनका पालन-पोषण प्रमोदा तीर्थ में ही हुआ। अल्पवयसतः सन् १८८८ में उनके पिता बिना हुमीरपुर की राठ तहसील में सुपरबाइजर कानूनगो हो गए और वे भी अपने पिता के साथ ही राठ में रहने लगे। छ. वर्ष की अवस्था में वे संभाप्रसाद से वे धर्म ज्ञान प्राप्त करने लगे। प्रारम्भ में ही उनकी प्रवृत्ति हिन्दी पढ़ने की ओर थी। यह महज हिन्दी-प्रेम पारिवारिक परिस्थितियों में बाल-हृदय में बूझ स्वागत प्राप्त करने लगा। उनकी बारी 'रामायण और 'मूरसायर' का पाठ करती और पिता 'रामचन्द्रिका' और भारतेन्दु के नाटकों का अध्ययन करते तो वे बड़ी उत्प्रेरणा में उन्हें मगन करते थे। उनकी महज छिः घण्टा कूल स्थिति पाकर समूह होमे लगी। सन् १८९२ में उनके पिता की नियुक्ति सहर कानूनगो के पद पर मिर्जापुर में हुई। जीवन की परिस्थितियाँ बरसीं किशोरवस्था के अवकाश के मान ही जीवन विद्या में लचील मोड़ दुर्घट पोषण होमे लगी। माता की मृत्यु के पश्चात् वे अपने पिता के साथ मिर्जापुर में आकर रहे लगे।

अध्ययन तथा विवाह—उमरान् सुकन श्रीवर्ष की आयु में मिर्जापुर पहुँचे और वहाँ जुबसी स्कूल में उन्हें के साथ संघर्षी पढ़ने लगे। 'विदित' पाल करने से पूर्व ही बाछ् वर्ष की आयु में उनका विवाह हो गया। विवाह के उपरान्त भी पठन-कार्य चलता रहा और दो-बडाई वर्ष में विदित पास कर लिया। लमभय सबह वर्ष की आयु में एम्प्लिय पास करने के उपरान्त वे अपनी पढ़ाई छोडे न लगी लगे। उनके पिता ने दूसरा विवाह करवा लिया था। यह कमह से विवदा होकर उन्हें अपनी पढ़ाई स्वचित करनी पड़ी। इस प्रकार विरभविद्यालय की उच्च परीक्षा उत्तीर्ण कर बड़ी उपाधि प्राप्त करने में वे संचित रहे लगे।

स्वतंत्र अध्ययन—पिता के साथ अपनी विवाहा के कारण संघर्ष रहने में वे अपनी मिला किन्ही महाविद्यालय में जान् न लगे लगे। बरान् स्वतन्त्र रूप से पठन-कार्य निरन्तर चलता रहा। कुलियों के पढ़ने का तो मानो उनको एक व्यसन-मा ही था। स्वामीय लान्नेरी में संघर्षी की पुस्तकें माना और

एक-एक बने ठठ ठक पड़ते रहना उनका प्रतिदिन का काम हो गया था। हिन्दी साहित्य की भी अनेक पुस्तकें उन्हें स्वतन्त्र रूप से पढ़नीं। भारत जीवन प्रेस के रामकृष्ण वर्मा उनके पिता के सहपाठी के पठ इस प्रस की प्रायः सभी नव प्रकाशित पुस्तकें घर में या बाड़ी की धीर के उन्हें किसी प्रकार से पढ़ लिया करते थे। इस स्वतन्त्र अध्ययन ने उनकी अनेक साहित्यिक रुचि को विकसित एवं समृद्ध करने में अत्यन्तनीय सहायता प्रदान की। काशी के प० केदारनाथ पाठक से परिचय हो जाने से उन्हें हिन्दी धीर बनया की अष्टौ-अष्टौ पुस्तकें मुद्राय्य हो गईं। मिर्जापुर में 'पाठक' जी ने एक हिन्दी पुस्तकालय खोला था। वहाँ से भी उन्हें पुस्तकें पढ़ने का सुमबसर प्राप्त हुआ और उनके साहित्यिक परिचय में वृद्धि करने की दृष्टि से विशेष उपयोगी प्रमाणित हुआ।

सत्संपत्ति का प्रभाव—पुस्तकों के निरन्तर अध्ययन के साथ पुस्तक जी को हिन्दी-संस्कृत साहित्य के विद्वान् महापुरुषों की संयति में रहने का सीमाव्य भी मिलता रहा। उनके पड़ोसी किम्बोत्तरीप्रसाद संस्कृत साहित्य के एक मातृक एवं वैश्वी विद्वान् थे। उनके सम्पर्ग से सबसे संस्कृत सीखने की रुचि उत्पन्न हुई और हिन्दी-ग्रन्थ का स्थिरता प्राप्त हुई। यह हिन्दी प्रेम बाबू काशीप्रसाद व्यासबाग के सम्पर्क में जाने से और भी अधिक बृद्ध होता जाता गया। बाबू बसमवर्षिहू टिप्पणी कलकटर के घर पर होने वाली महाभारत रामायण श्रीमद्भागवत पुराण आदि प्राचीन सांस्कृतिक ग्रन्थों की बधाओ के अक्षय से भी उनके मन-पटल पर भारतीयता के बीज अंकुरित होने रहे। भारतीय वेद भूषा के प्रति किष्किराबस्ता में आदर्श भी इसी सत्संपत्ति का प्रभाव कहा जा सकता है।

विरोधी आचार्य—मुक्त जी के मन में हिन्दी प्रेम के संस्कारों के पनपने में विरोधी आचार्य भी पनपान सहायक कहा जा सकता है। उनके पिता काग्रम होने पर भी नाम-नाम वैद्यभूषा की दृष्टि से एक योषवी दृष्टिगोचर होने से। उन्हें संस्कृत-हिन्दी बेहूबा भाषाएँ प्रतीत होती थी। उर्दू की शिष्टता के वे वरम भक्त थे। शोरी पहनकर बाहर निकलना तथा

नम विर रहना उनकी दृष्टि में एक इच्छनीय उपराध था। पुस्तकी के सहज विकास के मार्ग में पिता की यह तबाकबिलि गिण्टना बाधक थी। प० विन्ध्यवारीप्रसाद की विन्ध्यमण्डली में विचरने के कारण इनको भारतीय वेमनूपा अधिक प्रिय हो रही थी। पौली पहनकर वे प्राय इस मण्डली के साज मिर्जापुर में बूमते रहने थे। बापी पहनने के कारण वे प्राय अपने पिता से बख्शान बख्तमीय बेहुता नातायक प्रादि उपभाष्य मुता करत थे। परन्तु इस विरोधी नातावरण ने भी उनके सहज वस्कारों पर यदूरी खोट नहीं की। उनकी सहज भारतीयता प्रलुप्त रूप न धामीयत विद्यमान रही। विमाता का दुर्भवहार पिता की कडांगता पुस्तकी के सहज विकास में बाधक न बन सही अपितु उनकी सहज प्रकृति का सम्प्राप्य परिचित महानुभावों से प्रोत्साहन मिलता बना गया। ही इस विरोधी नातावरण से विन्ध्यविद्यालय की कक्षाओं में नियमित रूप से पढ़ने का सुभवस्य उग्न न मिल सका। पिता ने उनका बलागत पढ़ने के लिए प्रयास भवा परन्तु उनकी सहज शक्ति इस घोर न होने के कारण वे बहीस न बन सके। उनका सहज साहित्यिक हृदय कचहरी के कायलेन से सर्वथा प्रतिक्रम था। अत एव पिता की इच्छा के अनुकूल वे बलागत उतीय न कर सक।

प्राकृतिक नातावरण—पुस्तकी का जन्म तथा पालन-पोषण प्राकृतिक नातावरण में हुआ था। उनका जन्म स्थान प्रपन्ना पंच हरे नरे केनों तथा अमराइलों में बिरा हुआ था। उनकी किमारायस्था प्राकृतिक सीमार्ग से प्रोत् प्रोत् मिर्जापुर में व्यतीत हुई थी। मिर्जापुर की त्रिय 'रमई पट्टी' में वे अपने पिता के साथ रहते थे बहु स्थान प्राकृतिक भुवमा-मम्मन था। हरे-नरे केनों में तथा सुदूरपयन्त पंथी हरिन-कमुमिठ उर-नक्तिपों में बही-नालों की कनकल प्पनि में पूरित बीन-यसों में परिधमय बग्ने का सीमामय विघोर युक्त को अनापान ही उपलब्ध हो गया था। इस अर्धतन करण प्रकृति ने चैतन युक्त की आत्मा को तरल बनाने में सहृदय एवं साहित्यिक बनाने में पूर्ण सहयोग प्रदान किया था। पारसबर्ती बन्धस्थानियों में विनो-विहार ने उनके मानसिक विकास में उन्धेखनीय बोधगत किया था।

साहित्यिक वातावरण—सुकनजी के मानसिक विकास में प्राइमिक वातावरण के साथ तुल्यसील साहित्यिक वातावरण को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है। हिन्दी साहित्य का यह प्रमुख-काल वा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनकी भिन्नमण्डली के प्रथम प्रयास से हिन्दी साहित्य में नवीन प्रवृत्तियों का धीमे-धीमे हो रहा था। इसी वातावरण के कारण सुकन का बाल-हृदय भारतेन्दु में प्रथम प्रभावित हुआ था। प्रबोधमणि युक्त उस समय पुराण-पाठानुसार प्रसिद्ध सत्त्ववादी हरिश्चन्द्र और बीठवी लखी के साहित्यकार हरिश्चन्द्र में कोई अन्तर नहीं समझता था। अपने 'ग्राम-हस्तारण' में वे स्वयं लिखते हैं—

“तब हरिश्चन्द्र' नाटक के नामक राजा हरिश्चन्द्र और कवि हरिश्चन्द्र में मेरी बालबुद्धि कोई भेद नहीं कर पाती थी।”

धार्मिक स्थिति—सुकन जी की शिक्षा-काल में धार्मिक संकट का सामना करना पड़ा था। अपनी विधवा से उनकी बनती नहीं थी। इसी कारण उनके पिता उनकी धार्मिक सहायता नहीं कर पाते थे। कलकत्ता चम्पू अपने प्रथम-साम के कम पर शिक्षा प्राप्त करती पड़ी थी। कलकत्ता में उनकी कमेंट्री तथा प्रथम-साम से प्रभावित होकर उनके पिता धार्मिक सहायता के लिए उद्यत हो गए थे। पिता के परिश्रम में उनकी इस विधेयताओं में पर्याप्त परिवर्तन कर दिया था। बकायत की परीक्षा में अनुत्तीर्ण होकर जब वे घर आए तो उन्होंने देखा कि उनके पिता सब हिन्दी की ओर मुड़ रहे हैं। रामायण रामचन्द्रिका धार्मिक हिन्दी-ग्रन्थ सबी भक्ति से पढ़ने लगे हैं। भारतेन्दु के ग्रन्थों का भी अनुशीलन चल रहा है। इससे सुकनजी को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला परन्तु उन्हें पीछे ही धार्मिकता के लिए मिर्जापुर के लखन मिशन स्कूल में दाइस मास्टर बनना पड़ा। बीस वर्षे धार्मिक क्षेत्र पर उन्हें बहु कार्य अपनी धार्मिक विद्यताओं के कारण ही करना पड़ा। पन्नीब नर्य की शानु तक वे यही कार्य करते रहे; ठगुरान्त व काशी जैसे छाण। कानी गणपी प्रचारिणी समिति द्वारा हिन्दी-कोष का प्रकाशन प्रारम्भ हो रहा था। इस कोष के लिए प्रथम-संस्करण का कार्य सर्वप्रथम सुकन जी को

सीपा गया। सप्रह-काय समाप्त हो जाने के उपरान्त उन्हें सहायक सम्पादक के रूप में नियुक्त कर दिया गया। शुक्लजी के जीवन में काशी-भाष्यमन एक प्रमान बटता है। उनके जीवन का अक्षरिष्ट भागकाशी में व्यतीत हुआ। कोश-सम्पादन का कार्य समाप्त हुआ तो उन्हें हिन्दू विरचविद्यालय में ही निवृत्त-कला-शिखर के रूप में स्वागत मिल गया। उस समय डा. स्वामिमुन्दरदास द्विवेदी विभाय के अध्यक्ष थे। उन्होंने स० १९२४ तक मुबार सन् १९१७ में इस अध्यक्ष-पद में अक्षराक्ष प्रहल कर लिया। यह स्वागत शुक्ल जी को दिया गया। ब फिटर जीवन भर इसी अध्यक्ष-पद पर पासीत रहे।

रचना कार्य—शुक्ल जी की साहित्यिक प्रतिभा यद्यपि सुजन तथा भावन दोनों व्यापारों में प्रकट हुई तथापि इनकी भावन सम्बन्धी प्रतिभा न हिन्दी साहित्य को अधिक प्रभावित किया है। तेरह वर्ष की आयु में ही उनकी मूत्रनात्मक प्रतिभा अपना स्वरूप उद्भावित करने लग गई थी। सर्वप्रथम नाटक रचना की ओर इन प्रतिभा ने उन्हें अग्रसर किया। 'हास्य विमोच' नाटक उनका साहित्यिक रचना की दिया में पहला पय था। यह नाटक प्रकाशित न हो सका। उनके एक मित्र ने उन पत्र कर फेंक दिया था। 'पृथ्वीराज' नाटक के केवल दो अंक ही उन्होंने लिखे और उसे अधूरा छोड़ दिया। इसी आयु में समय-समय पर वे कविता और दोहे भी लिखते रहे। तत्कालीन 'सरस्वती' 'भामन्द काश्मिनी' आदि पत्रिकाओं में उनके किशोर-काल की मौलिक रचनाएँ प्रकाशित होत लगी। सोमह रूप की अक्षरा में उनकी 'मनोहर घटा' नाम की एक कविता 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। इसी काल में उनकी 'विशिर-पत्रिक' 'जमन्त पत्रिक' 'भारत-जमन्त' 'दुर्गावती' आदि रचनाएँ उक्त पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी।

उनकी मूत्रनात्मक प्रतिभा रचनात्मक साहित्य में हटकर अनुवाचकार्य की ओर प्रवृत्त हुई और उन्होंने अपनी स्वभावस्था में ही अक्षरी लेखों तथा पुस्तकों का अनुवाद करना प्रारम्भ किया। Addison की Essays on Imagination पुस्तक का अनुवाद 'कल्पना का धामन्द' शीषक

साहित्यिक वातावरण—मुक्तजी के भावसिद्ध विकास में प्राकृतिक वातावरण के साथ तत्कालीन साहित्यिक वातावरण को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है। हिन्दी साहित्य का यह सम्बुद्धय-काल था। तार लेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनकी मित्रमण्डली के प्रथक प्रयास से हिन्दी साहित्य में नवीन प्रवृत्तियों का बीजबोधा हुआ था। इसी वातावरण के कारण मुक्त का नाम-हरण भारतेन्दु में प्रत्यक्ष प्रभावित हुआ था। प्रबोधमति मुक्त उस समय पुरान-बाबाओं में प्रसिद्ध सत्यवादी हरिश्चन्द्र और बीसवीं सदी के साहित्यकार हरिश्चन्द्र में कोई अन्तर नहीं समझता था। अपने 'धाम-मत्सरण' में वे स्वयं लिखते हैं—

“सत्य हरिश्चन्द्र” नाटक के नायक राजा हरिश्चन्द्र और कवि हरिश्चन्द्र में मेरी बातबुद्धि कोई भेद नहीं कर पाती थी।

धार्मिक स्थिति—मुक्त जी को शिक्षा-काल में धार्मिक संकट का सामना करना पड़ा था। अपनी विमाता से उनकी बनयी नहीं थी। इसी कारण उनके पिता उनकी धार्मिक सहायता नहीं कर पाते थे। फलतः उन्हें अपने धम्मबधाय के बल पर शिक्षा प्राप्त करनी पड़ी थी। अन्त में उनकी कर्मठता तथा धम्मबधाय से प्रभावित होकर उनके पिता धार्मिक सहायता के लिए उद्यत हो गए थे। पिता के चरित्र में उनकी इन विद्येपठाओं ने पर्वीण चरित्रवर्तन कर दिया था। बकालत की परीक्षा में अनुत्तीर्ण होकर जब वे घर आए तो उन्होंने देखा कि उनके पिता सब हिन्दी की ओर मुक रहे हैं। रामायण रामचरित्रका धारि हिन्दी-ग्रन्थ बड़ी पकड़ से पढ़ने लगे हैं। भारतेन्दु के ग्रन्थों का भी अनुशीलन चल रहा है। इससे मुक्तजी को पर्वीण प्रोत्साहन मिला परन्तु उन्हें धीम ही धार्मिकता के लिए मिर्जापुर के लन्दन मिशन स्कूल में इंग्लिश मास्टर बनना पड़ा। बीस रुपये मासिक वेतन पर उन्हें यह कार्य अपनी धार्मिक विषयताओं के कारण ही करना पड़ा। पन्नीस वर्ष की आयु तक वे वही कार्य करते रहे। उदुपरान्त वे काशी चले आए। जामी गायत्री प्रचारिणी समा द्वारा हिन्दी-कोष का प्रकाशन प्रारम्भ हो रहा था। इस कोष के लिए धर-संबह का कार्य सर्वप्रथम मुक्त जी को

ने नामची प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित हुआ। इसी प्रकार *Magazine* की *India* नामक पुस्तक का अनुबाह 'मेजास्पदीय का भारतवर्षिय विवरण' के नाम से सर टी. माधवराय के *Minor Hints* का अनुबाह 'राज्य प्रबन्ध विद्या' के नाम से *Piyan living and high thinking* का अनुबाह पार्थ 'बीबन' के नाम से 'Riddle of the Universe' का अनुबाह 'विश्वप्रपंच' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसी प्रकार बाबू रामाहृदयदास का जीवन चरित्र बुद्धचरित्र पद्योंक आदि कई समृद्धि ग्रन्थ प्रकाशित हुए।

'नामची प्रचारिणी पत्रिका' के सम्पादन कार्य ने तथा हिन्दू विश्व विद्यालय में सम्पादन कार्य ने उनकी भावमिथी प्रतिभा को उत्तेजित किया और वे निबन्ध रचना को और ओल्हाह प्रवृत्त हुए। अपने समृद्ध बुद्धि-बल से वे गम्भीर से गम्भीरतम साहित्यिक मनोवैज्ञानिक विषयों पर निबन्ध लिखने लगे और भावमिथी प्रतिभा के पूर्ण विकसित हो जाने पर वे काव्य मीमांसक आचार्य के रूप में हमारे सामने प्रकट हुए। उनके कविता समा है 'काव्य में रहस्यवाद' 'काव्य में प्राकृतिक रूप' 'माछेन्दु समीक्षा' 'उपन्यास' 'माया का विस्तार' आदि अनेक निबन्ध विचार-बीबी और चिन्तामणि नामक संग्रहों में प्रकाशित हुए। 'तुलसी सम्पादनी की भूमिका' 'बावरी सम्पादनी की भूमिका' 'भूरवाच' 'अमरबीतछार' आदि समा सोचलाई भी उनकी उत्कृष्ट कोटि की भावमिथी प्रतिभा के प्रमाण स्वरूप करी जा सकती हैं। उक्त निबन्धों में समालोचनात्मक भूमिकाओं में भुक्त जी के काव्य सम्बन्धी अनेक सिद्धांत आम्पछाईं व चारपाईं विन्यस्त हुई हैं। काव्य विन्यस की दृष्टि से उनके विभिन्न लेखों का 'रस मीमांसा' नामक उपहृ विधेय उल्लेखनीय है। इस प्रकार काव्य विषया पर धरने गम्भीर अनुशीलन के आधार पर रचनाएँ प्रस्तुत करके भुक्त जी ने अपने जीवन की सचित विभूति हिन्दी साहित्य को प्रदान कर दी। श्री रामचन्द्र मुनि का यह जीवन हिन्दी साहित्य के विकास प्रचार व विस्तार में एक गुरु बरदान माना जा सकता है।

धर्म — गुप्त जी को साहित्यिक बीर की धरती में परिचयित किया जा सकता है। अपनी साहित्यिक कारवाहों व माय्यताओं के प्रकाशन में पारंपार्य साहित्य के सम्पर्क से उदीयमान तबीन प्रवृत्तियों के प्राणिक समर्पण व विरोध में प्राचीन भारतीय काव्य-परम्पराओं के विरुद्ध में और उनके प्रति अपनी सम्मति के प्रकाशन में त्रिभुज निर्मयता एवं माहुरकी अपेक्षा है वह हम गुप्त जी के व्यक्तित्व में परिचयित होना है। अपनी इस बीरता के सहारे साहित्यिक क्षेत्र में अपनी विजयध्वजुभी बजाया हुआ यह बीर २ फरवरी सन् १९४१ उद्भवुसार बिजनी सम्बन् १९९८ में अपनी इह भीमा का संवरण कर हमसे पूरक हो गया। शैतिक गारर में हिन्दी साहित्य का यह विरोध भाग्य है। गुप्त जी का साम्यात्मिक जीवन धर्म भी हिन्दी साहित्य की प्रगति में स्वरूप-निर्धारण में अपना नमुनित योग प्रदान कर रहा है। उनकी कारवाह धर्म एक परम्परा प्रजापी या बाद का रूप धारण करती प्रतीत होती है। शैतिक विभूतियों में सामान्य परन्तु साहित्यिक प्रतिभा ने समस्त गुप्त हिन्दी साहित्य की बहुमुख्य पित्रि के रूप में धर्म हो गया है। इस क्षेत्र में धर्म वह धर्मका नहीं है उनके साथ एक सम्प्रदाय है, धार है। हिन्दी साहित्य-मगत में गुप्त जी की धुक्कता अपनी अद्वैतपूर्व धुक्कता का प्रसार करनी दुष्प्रतिष्ठा होती है।

व्यक्तित्व-विशेषण-धर्म सम्मान — जीवन रंभके सामान्य जीवन जीवन धर्मसे-मगने गुप्त जी का व्यक्तित्व विभिन्न विशेषताओं का पंचपा। उनके व्यक्तित्व की सर्वप्रथम विशेषता 'धर्म सम्मान' की भावना है। निर्वापुर के कनकर ने गुप्त जी की धार्मिक सम्बन्धी वृत्तता में प्रसन्न होकर उन्हें एक धर्मोद्दी धार्मिक में बीस रुपये धार्मिक की लौकिके दिनवाई की वरन् उनके धर्म सम्मान के धार्मिक दिनों तक बहूँ टिकने न दिया। एक बार धार्मिक के प्रधान सेनक ने उनसे रविवार को भी धार्मिक के लिए कहा। इसी बात को धर्मनामजनक मन्करकर उन्होंने इस कार्य में स्पष्ट पक्ष दे दिया। इसी प्रकार उनके पिता की प्रार्थना पर कनकर महोदय ने उनकी नामध तहमीनदारी के लिए निधारीय की भी परन्तु उन्होंने अपनी

आत्म सम्मान की भावना से प्रेरित होकर इस प्रलोभन को भी तिलांजलि दे ली थी। उनका वह बड़ा विचार था—'आत्म सम्मान की रक्षा करते हुए कहीं पर बचीटा जाना अच्छा है पर इसे छोड़कर कुर्सी में तुलना अच्छा नहीं'। इसी स्वागपन के साथ उन्होंने एक लेख इण्डियन रिब्यू पत्रिका में प्रकाशित करवाया। लेख का शीर्षक था—What has India to do ? इस लेख को पढ़कर कलकटर में अपनी सिफारिश वापस में ली थी। इस प्रकार आत्म सम्मान की भावना उनको नामक तहसीलबारी से दूर से नहीं धीरे साहित्य के स्वच्छन्द वातावरण की ओर ले गई। इसी आत्म सम्मान की भावना के कारण वे धनधर के महाराजा के पास भी मौजूदगी न कर सके और चाहे ही अपने मासिक बैठन का मोह छोड़कर फिर हिन्दी साहित्य की सेवा के लिए काशी विश्वविद्यालय में हाँ धा गए।

गम्भीरता : बिनोद प्रियता—सुष्म जी के व्यक्तित्व में गम्भीरता और बिनोदप्रियता का मिलनमय सामंजस्य है। घर की विपरीत परिस्थिति में उन्हें गम्भीर एवं आत्मविश्वासी बना दिया था। नौ वर्ष की अवस्था में माता की मृत्यु और बारह वर्ष की आयु में विवाह विमाता के दुर्घटन तथा आर्थिक संकट के कारण उनकी प्रकृति अधिकतर अस्थमूर्च्छी हो गई थी। इसी गम्भीरता ने उन्हें हिन्दी साहित्य गणम में ईश्वरप्रदान होने की शक्ति प्रदान की। इसी के कारण वे प्राकृतिक सौन्दर्य के धाँधने से मानव जीवन के साथ प्रकृति के सम्बन्ध को स्पष्ट करने में मानव प्रकृति के विविध रूपों के निरीक्षण में प्राप्य तथा वास्तव्य साहित्यिक उत्सवों के विस्तार में तुलसी मुर आपसी प्रादि महाकविता के साहित्य के मर्म को समझने में हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों की विविध प्रवृत्तियों के अनुशीलन में समर्थ हो सके हैं। इस गम्भीरता की रूप उनकी प्रत्येक साहित्यिक कृति पर प्रतिफलित होनी देखी जा सकती है। जीवन की बिकट परिस्थितियों किन प्रकार मानव जीवन को बहुमुख बना देती हैं इसका प्रत्यक्ष उदाहरण सुष्म जी का जीवन माना जा सकता है।

बिनोद प्रियता—उक्त गम्भीरता परिस्थिति अन्य थी। उनकी मीठ

निक प्रकृति में बिनोद की समुचित भाषा विद्यमान थी। गम्भीरता के तमने बड़ी यह बिनोद-प्रियता प्रचसर पाकर छूटती रही है। सर्वप्रथम 'हास्य बिनोद' नामक नाटक प्रथमतः के रूप में उनकी इस सुष्ठु बृत्ति के दायम होने हैं। डा० श्यामसुन्दरदास जी के कथनानुसार यह नाटक उन्होंने ठैरु बर्ष की आयु में ही लिखा था। जीवन का सामान्य घटनाओं में भी इस बिनोद बृत्ति का धामास मिसला है। श्री कृष्ण राकर म्यास में 'हिन्दुस्तान छाप्ता हिक' के होली-विषपाक में उनके जीवन की एक इसी प्रकार की घटना का उल्लेख किया है। एक बार बसा भयवानदीन के साथ एक ऐसी दुकान पर शरबत पीने गए जहाँ एक परिचारिका साहकों की सेवा के लिए नियुक्त थी। शरबत पिलाने के पलस्तर दुकानदार ने उनसे तीन घान क स्थान पर इस घाने माँये तक उन्होंने भयवानदीन से बिनोदपूर्वक कहा कि—“यद्य घाने ही वे बीबिए, क्योंकि इसमें परिचारिका क परबते-बीवार की कोमठ भी सम्मिलित है।” इसी प्रकार की एक घटना भा घिबनाय भी में भी लिखी है उन्होंने लिखा है—“स्वर्भवास के कुछ ही दिन पूर्व गुरुजी धमोष्मा गए थे। वहाँ सरयू के किनारे एक माषक को इन्होंने 'साहब की टोपी ऊँची रहे' 'साहब की टोपी ऊँची रहे' रटते सुना। मैं उसके पास गए उस कुछ देकर कहा—यदि तुम चाहते हो कि स्थिती भी तुम्हें कुछ दिया करें तो पास से जब किसी स्त्री का जाते देखो तब बट बोल उठा—‘मम साहब की जूठी ऊँची रहे, मेम साहब की जूठी ऊँची रहे।’”

हास्य-व्यंग्य—बिनोद बृत्ति का हास्य-व्यंग्य के साथ घट्ट सम्बन्ध है। अपनी इसी साहबबृत्ति के कारण हम गुरुजी को गम्भीर से गम्भीरतम विषयों का प्रतिपादन करते हुए माग्भीर्यपूर्ण शैली के मध्य में मूर्खों घट्ट बहियों, धर्म शत्रुओं घसाहित्यियों पालणियों बिराबियों का उपहास करते उनके प्रति फवतिपाँ कसते चुटकियाँ गित माग् व्यंग्य प्रकट करते देखते हैं। हिन्दु समाज पीता का बड़ा सम्मान करता है परन्तु उसके आचरण में शीर पीता क निष्ठा क कमबाव में घाजाम-याताम का घस्तर है। हिन्दुओं की इस पमामन्ति पर गुरुजी ने बड़ी लिप्यता से धपन

लीन होती है। 'मया मस्ति' धीरक मेख में ही उम्होंने अपनी इस प्रवृत्ति को स्पष्ट झलका दिया है। वे लिखते हैं— 'समाज में वे बस्तुएँ बचने गुणियों और परोपकारियों के लिए हैं, पर इन्हें जीतने और चुराने की ताक में बहुत से धीर-बाईं धीर मुंठे रहते हैं जो इनके द्वारा स्वार्थ-साधन करना या अपनी तुच्छ मानसिक वृत्तियों को पूर्ण करना चाहते हैं। इनसे समाज को हर मही सावधान रहना चाहिए—इन्हे सामाजिक बंध बने के लिए उसे मदा सघन रहना चाहिए। वे धनेक रूपों में दिखाई पड़ते हैं। कोई गैरमास्त्रक सपेठे धर्म का बका पीटता दिखाई देता है कोई बेच हितैषिता का तन्ना बोया पड़ने बेछोडार की पुकार करता पाया जाता है।"

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि मुस्मजी में सात्त्विकता से धनुराय और हृदिमता से विरहित है। इन दोनों गुणों के मूल में विद्यमान उनकी सामाजिक वृत्ति भी विशेष उल्लेखनीय है। लोक-कल्याण-साधना उनके जीवन का एक प्रमुख तन्म है। हम उनके जीवन-दर्शन में साहित्यिक विरसेवचन में सर्वत्र इसी भावना को पल्लितहित देख सकते हैं। यदि वे भावों में से 'कल्याण' को महत्त्व देते हैं यदि वे 'कल्याण' जैसे उच्चभाव की धामस्मकता का प्रतिपादन करते हैं यदि वे राम-साहित्य को हृत्प-साहित्य से अधिक प्रधानता देते हैं यदि वे मुक्ता की भोजना प्रबन्ध काव्य में अपनी रचि प्रदर्शित करते हैं यदि वे काव्य में उच्चभावों के वर्णन में भी उत्कर्ष की कल्पना करते हैं यदि वे आयाकारी रचनाओं के प्रति अपनी सांघिक विरक्ति भवकाते हैं यदि वे ऐकान्तिक प्रेम के विषय में लोक जीवन-संरिक्त प्रेम के वर्णन को अधिक महत्त्व प्रधान करते हैं यदि वे गृहधर्म कुलधर्म समाजधर्म लोकधर्म और विरहधर्म के रूप में धर्म की भूमियाँ कल्पित करते हैं यदि वे रूप सौन्दर्य के साथ धर्म सौन्दर्य की भी प्रतिष्ठ करना चाहते हैं यदि वे पीस गुण को सबसे अधिक धडेय समझते हैं यदि वे 'उस्ताह' की गणना सद्गुणों में करते हैं यदि वे पाप के रूप को छिपाने नाम को पाप छिपाने जाने की भोजना अधिक धनराधी मिठ करते हैं यदि वे राम के जीवन के नाम उचन के जीवन में भी उपयोविता की मृष्टि कर लेते हैं यदि वे

निर्गुण भक्ति के समस्त सयुक्त भक्ति की खेप्टा प्रतिपादित करते हैं यदि वे भक्ति के सामाजिक महत्त्व को इसकी लोक-हितकारिणी शक्ति को स्वीकार करते हैं यदि वे कर्माधर्म में साधन-सम्पन्नता की अपेक्षा उनके पढ़ने वाले ममोहारी प्रमाण का अधिक मूल्य धाँकते हैं यदि वे उनके रूप वाले बालों के स्वर संभान को घाठ अनुस मुँह फँसाना या स्वरधाम की सम्मी-बौद्धि कबायब कहते हैं, यदि वे सच्चा विद्वान् उसे ही समझते हैं जो ज्ञान का मरहारी भी हो और उपयोग-कर्ता भी हो यदि वे नीतिबाही हैं और काम्य में व्यावहारिक उपयोगिता का अनुसंभान करते हैं यदि वे सदाचारी एवं लोकोपकारी के प्रति नतमस्तक होता परम कर्तव्य मानते हैं तो केवल इसीलिए कि वे लोकबादी हैं लोक-संग्रह की भावना से प्रोत् प्रोत् हैं। उनके सामाजिकता उनके सारे इतित्व पर सन्नता से प्रतिच्छायित हैं। उनके व्यक्तित्व का समाहार इसी लोकवाद में किया जा सकता है। लोक मय भावना ने उनके व्यक्तित्व को चार चाँद लगा दिये हैं। यह हमारे लिए अनुकरणीय एवं उपादेय बन गया है।

प्रकृति-प्रेम—मुसलमी के व्यक्तित्व की समीक्षा करते हुए यदि उनके प्रकृति-प्रेम की वर्णन की जाए तो यह समीक्षा झुकी कहलाएगी। लोक-संग्रह की भावना के समान उनके प्रकृति-प्रेम में भी उन्हें धरम्य गहराई के साथ प्रभावित किया है। मुसलमी के जीवन से प्रकृति का बड़ा जमिच्छ सम्बन्ध रहा है। वे प्रकृति के अनन्य प्रमी थे। बास्यकाल से ही उनका यह प्रकृति-प्रेम उत्कट रूप में प्रकट होने लगा था। बसत्यतियों में विहार करना कसकस-निनाद करती बसभारा का चिरकाल तक धवलोरुन करना सदा बिरों के शाका-प्लवों की हरीतिमा से उत्कथित होता सन्न हुमों की चीनम छाया में निरन्तर बियाय करना पर्वतों की चोटियों पर विहार करना उनके बास्यकाल के जीवन का प्रमुख धर्म था। यह प्रकृति-प्रेम धामी बन उनमें स्थिरता से विद्यमान रहा। बड़ी धामु में भी वे यथावसर बन विहार का प्राप्त्य उठाने में प्रवृत्त होते रहे। उनका यह प्रकृति प्रेम उनके लेखों में भी यथास्थान उभरता परिनक्षित होता है। 'सोम और प्रीति'

दीर्घकाल में सुखे देश-श्रेय की व्याख्या के प्रसंग में उनकी ये पंक्तियाँ उनके हृदय में जीव रूप से विद्यमान प्रकृति-श्रेय को ही झलकाती हैं। वे कहते हैं—“बाहर निकलते तो प्राँज खासकर देखो कि बेट कौनो सहस्रहा रहे हैं गाने गानियों के बीच से कौंसे सह रहे हैं टेरू के फूलों से बमस्वसी कौंसी नाच हो रही है। बीपायों के भुष्क बछे हैं, बरबाहे तान सड़ा रहे हैं। अमराइयो के बीच में पाँच सौक रहे हैं। एक-एक चन्द्र से प्रकृति-श्रेय की मजुर बाय प्रवाहित हो रही है। प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ के प्रति उनके हृदय में धाकर्वच है। वे प्रकृति के मजुर, कोयल तथा सुषय पदार्थों से ही साहस्य नहीं होत अपितु उनके लिए भीषण कठोर तथा कुस्य प्राकृतिक दुस्व भी विमोहक बन जाते थे। वे उन लोको में से नहीं थे जिन्हें प्रकृति के सामान्य पदार्थों में तस्तीन होने में अस्वयता की लज छाती है। उनका लक्ष्य ही वे अपने एक सखनबी मित्र की चर्चा करके ऐसे जाकों के प्रति अरुणि प्रवर्धित कर देने थे। वे लिखते हैं—“मैं अपने एक सखनबी बस्त के साथ सौबी का स्तूप देखने गया। वह स्तूप एक बहुत सुन्दर एक छोटी-सी बहाली के ऊपर है। नीचे एक छोटा-सा अंगण है जिसमें मजुर के पैर भी बहुत-से हैं। अस्तन का समय था। मजुर चारों घोर टपक रहे थे। धरे मुँह से निकला—“मजुरों की कौंसी मीठी मजुर था गही है।” इस पर सखनबी महाशय ने मुझ रोक कर कहा “वहाँ मजुर-मजुर कर नाम ल सीकिए नाम देहानी समझो। मैं चुर हो गया समझ गया कि मजुर का नाम जानने से बाकुपन ल बहा मारी बड़ा लयता है।

महं स्पष्ट है कि मुकनबी प्रकृति के पदार्थों के प्रति अपनी रूचि प्रकट करने में अकार्य नहीं करते थे। नाम्य सिद्धान्तों के विवेचन में भी उनका यह प्रकृति प्रय दिया नहीं रहा सना है। अतः इस बात का खेद है कि हिन्दी की कविनाया में प्राकृतिक दुस्वों का यह सूक्ष्म वर्णन नहीं मिलता जो अस्तन की प्राचीन कविनाओं में पाया जाता है। वे काव्य में प्रकृति का सामान्य रूप से वर्णन देना चाहते हैं। प्रकृति के नामा रूपों का वे अस्वय-बोध के के शोभ्य समर्पण हैं। उनकी बरसा के अनुसार अन्तः प्रकृति के प्राकृतिक

बुद्धियों के वर्धनकाम में हम एक मञ्जुर मावता की अनुभूति करते हैं और यह काव्य में प्रसिद्ध रसात्मक अनुभूति से किसी भी रूप में कम नहीं है। शुक्लजी को अपने इस प्रकृति प्रेम पर बड़ा गर्व है। मृत्यु के कुछ ही दिन पूर्व मिर्जापुर के कवि-सम्मेलन में उनका यह गर्व इन शब्दों में साकार हो गया था—
 "मैं मिर्जापुर की एक-एक म्हाड़ी एक-एक टीस से परिचित हूँ। उसके टीसो पर चढ़ा हूँ। बचपन मेरा इन्हीं म्हाड़िया की छाया में पला है। मैं इसे कैसे भूल सकता हूँ। सोचों की अन्तिम कामना रहती है कि मैं काशी में मोसलाभ करूँ, किन्तु मेरी अन्तिम कामना यही है कि अन्तिम समय मेरे सामने मिर्जापुर का वही प्रकृति का दिव्य बावू हो जो मेरे मन में भीतर-बाहर बसा हुआ है।"

उक्त विवेचन के माध्यम से हमने शुक्लजी के निजी व्यक्तित्व के विश्व की रेखाओं को अधिक स्पष्ट करन का उपक्रम किया है। उनका यह निजी व्यक्तित्व हमारे लिए अत्यन्त उपादेय है। इसी के आधार पर हम उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के मर्म को हृदयंगम करने में समर्थ हो सकेंगे। शुक्लजी की गम्भीरता अभ्यसनीयता तथा अन्तर्दृष्टि ने साहित्यिक क्षेत्र में उन्हें वैदिकान्तिक दृष्टि प्रदान की है। उनकी व्याख्यात्मक प्रवृत्ति इन्हीं गुणों का उपान्तर है। उनकी कृतियों में बर्गीकरण की प्रवृत्ति का तुलनात्मक दृष्टि कोण का अमबद्धता तथा अस्थिति का समावेश इसी भूत प्रवृत्ति के कारण से हुआ है। उनकी समाजिकता परोक्षधीनता तथा सात्विकता ने उन्हें नीतिवादी एवं मूल्यवादी बनन की प्रेरणा दी है। उनके बौद्धिक प्रयासों के अन्तर्गत प्रज्ञान क्षेत्रों के नीरस क्षेत्र को सरस सुरम्य एवं अविचारपूर्ण बनाने में उनकी विषम जीवन-परिस्थितियों में दबो पड़ी हास्य-व्यंग्य शक्ति का अमूल्य योग्यता की है। यदि उनकी कृतियों में भारतीय जीवन की भारतीय सिद्धान्तों की भारतीय एवं शास्त्रीय भक्ति की भारतीय काव्य परम्पराओं की प्रखंडता मिलती है तो उसका अर्थ उनकी आत्म-आम्मान की शक्ति का दिया जा सकता है। उनका प्रकृति प्रेम भी भव्य है जिसने उन्हें मन्त्रावस्था भक्त तथा भारतीय परम्पराओं का अनुयायी बना दिया है। पारबाल्य

साहित्य के नवीन-नवीन मन्त्र तथा काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों की बकाचीय में यदि उनकी दृष्टि मन्द एवं अशक्त नहीं हुई है यदि इस नवीनता के भीषण अंधड में भी वे अडिग रहे हैं तो केवल इनी भारतीयता के सामे बुद्धि अक्षि के कारण । भारत की अपनी प्राचीन संस्कृति अल्प को ग्रहण करने और अल्प के परिवर्तन का अमर सम्बन्ध होती है । उनकी भारतीयता इस अन्धे को किम्बात्मक रूप देने में उन्हें तथा प्रवृत्त करती रही है । अल्प नवीनता तथा सर्वत्र ब्राह्म होता है यह सूत्र काव्य मन्त्रों के साहित्यिक चिन्तन का आधार बन गया है । यदि वे काव्य समीक्षा में समन्वयवादी हैं तो इनी अल्प उत्पत्ता के कारण । निस्सन्देह उन्हें पुरातन-साहित्य-सरोवर प्रिय है परन्तु उसमें स्थापित मन्त्रिता कवि की कोई प्राज्ञ नहीं है । यदि इस प्राचीन-साहित्य-सरोवर में नवीन जल-संचार से कवि की मन्त्रिता दूर की जा सकती है तो उन्हें इस नूतन बाध के धर्मीकरण में ठनिक भी अक्षेप नहीं है । वे इस सरोवर में से भ्रान्त मारणाथी मान्यताओं के अन्ध-अन्धता को उन्नाड फेंकने में भी हानि की भाषिका नहीं करते हैं । उनकी भारतीयता उस स्थिति में भी अक्षुण्ण रहती है । ईश्वरीयत्व में उन्होंने पाश्चात्य नवीन काव्य सिद्धान्तों के प्राज्ञ एवं सारपूर्ण तत्त्वों को ग्रहण करके अपनी साहित्यिक उदारता एवं वैज्ञानिक मिश्रणता का परिचय दिया है । अपने इनी अक्षिण के कारण मुम्बयी ने हिन्दी साहित्य में अपना स्थान एक मन्द मन्द-मन्द के रूप में निरालम्ब के रूप में समासोत्तर के रूप में तथा काव्य मीमांसक धारार्थ के रूप में बना लिया है । हम उनके इसी अक्षिण की पुष्कभूमि को लेकर उनके सामाजिक मन्त्रों साहित्यिक मान्यताओं धारोचना पद्धतियों विचारों तथा अन्त्याय साहित्यिक कृतिया का विरसेवन करने का प्रयत्न करेंगे । इस प्रकार हम हिन्दी मन्द साहित्य के विकास में भी राजचन्द्र सुषम की रेल का मूल्यांकन करने में तत्पर हो जाएंगे ।

शुक्ल जी के दार्शनिक मन्तव्य

सुसन्धी की हतियों की साहित्यिक समीक्षा के लिए उनके दार्शनिक मन्तव्यों का पर्यालोचन परमावश्यक है। उनकी हतियों में स्वान-स्वान पर प्रासंगिक रूप से ये मन्तव्य बिखरे मिलते हैं। स्वतन्त्र रूप से 'दर्शन साधन' के विषय को उम्होने नहीं लिखा है। उनका प्रधानतम उद्देश्य तो साहित्यिक समीक्षा ही है, फिर भी उनके मन्तव्यों का निर्धारण किया जा सकता है।

दार्शनिकता का मूल—दर्शन विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र मिल्न मिल्न है, फिर भी इन सब के मूल में प्रकृति से मानव का सम्पर्क ही है। मानव का जन्म प्रकृति की गोद में होता है और वह उसके द्वारा पालित पोषित होकर बुद्धि प्राप्त करता है। प्रकृति के इस सहज सम्पर्क से मानव मन में दो रूपों में प्रतिक्रियाएँ उद्भूत होती हैं। एक रूप में वह दर्शनमात्र का विषय बन जाती है क्याकि इनका आचार बुद्धि होती है। इस रूप में आदर्शमयी प्रकृति मानव के ज्ञान केन्द्र को आन्दोलित करती है। वह यह सोचने लगता है कि इस मानविय मूर्ति का निर्माता या नियन्ता कौन है? उसका स्वप्न कैसा है? उसका अधिवास कहाँ है? मानव की इस मूर्ति में क्या स्थिति है? आत्म और अनात्म में क्या अन्तर है? इस प्रकार अनेक प्रश्न उस मन्त्री बौद्धिक चिन्तन में तालिकक विरूपेण में—प्रकृत कर देते हैं। मानव की इसी शानमूलक प्रकृति का ही एक रूप विज्ञान कहनाया है। जिस समय यह प्रकृति आत्म-अमात्म में कोई मौलिक अन्तर न मानकर उसका गोचर रूप का विरमपन करने में निरत रहती है। तब वह विज्ञान के स्वरूप का विधान करती है। इसका विपरीत जब वह जीव और अजीव का जेह सिद्धांत स्विकार करके इनके पारस्परिक सम्बन्ध

का अनुसन्धान करने के लिए जीव रूप के विस्लेषण में प्रयुक्त करती है तब मानव दर्शनशास्त्र की रचना करने लगता है। 'जगत' प्रकृति का भौतिक दर्शन विज्ञान का विषय है और साम्प्रदायिक दर्शन दर्शनशास्त्र का विषय माना जा सकता है। दोनों के मूल में निश्चित रूप से प्रकृति विद्यमान रहती है। इसी प्रकार साहित्य के मूल में भी प्रकृति का अस्तित्व निर्विवाद है जब हम प्रकृति का दर्शन सांत्विक रूप से नहीं करते अपितु दुःख की अनुभूति के अनुभव करने लगते हैं तब हम साहित्यिक सृष्टि करने लगते हैं। यह स्पष्ट है कि प्रकृति मानव की भौतिक व मानसिक प्रतिक्रियाओं के मूल में निर्विवाद रूप से अन्तर्निहित रहती है।

सुख को भी शारीरिकता का रहस्य व स्वरूप—सुख को भी प्रकृति प्रेम ने उनके अन्तर शारीरिक प्रविष्टा को विकसित किया है। वे मूलतः साहित्यिक हैं। वे मानव जीवन में हृदयभूति के अस्तित्व व प्रभावित हैं। दर्शन और विज्ञान दोनों ही उनकी साहित्यिक भावधारा के बूट बिगारे हैं। इन्हीं दोनों के नियन्त्रण में उनका साहित्यिक चिन्तन पतिष्ठीत होता है। यही कारण है कि उन्होंने प्रकृति का चिन्तन रूपों में दर्शन किया है। जब वे जर्मन वैज्ञानिक हेनस को Riddle of the Universe का अनुवाद 'विश्व प्रश्न' नामक पुस्तक के रूप में प्रस्तुत करते हैं तथा उसमें बतित आधुनिक विज्ञान व दर्शन सम्बन्धी विषयों को स्पष्ट करण के लिए अपना प्राक्कथन हमारे सम्मुख रखते हैं तब हम उन पर प्रकृति के विज्ञान सम्मत स्वरूप की कृपा दागते हैं और यह अनुभव करने लगते हैं कि वे जीवित-वासी हैं और धनात्मवादी धार्मिक-साहित्यिक सिद्धान्तों के समकक्ष हैं। इसके साथ ही जब हम उन्हें यह स्वीकार करता देखते हैं कि धातु और धनात्म के परस्पर सम्बन्ध का असाध्य विस्लेषण अभी तक विज्ञान नहीं कर सका है और वैज्ञानिक निरन्तर प्रयत्न करने के उपरान्त अभी तक यह ज्ञानने में अग्रगण्य रहे हैं कि जीव-तत्त्व का उद्भासन कारण क्या है फलतः वे अपनी प्रयोगशालाओं में जीव-तत्त्व नहीं बना सके हैं तब हम वे जीव-तत्त्व की पूर्णतया स्वीकार करते परिवर्धित होते हैं। उन्होंने जगत प्रकृति का

बीब-तत्व का—भी वर्णन किया है। उनके मनोबिकार सम्बन्धी निबन्ध इसी वर्णन के उदाहरण कहे जा सकते हैं। इन निबन्धों में हम उन्हें प्रकृति का धार्म्यात्मिक वर्णन करते पाते हैं। इनको पढ़ते समय हमें यह सम्बेह नहीं होता कि ध्रुव्य भी ध्यात-तत्व को स्वीकार नहीं करते हैं। ध्यान उनके सम्बन्ध में कुछ धार्मिकों की धारणा बनती जा रही है कि वे इन्द्रात्मक मौक्तिकवाद के समर्थक हैं। इन धार्मिकों की धारणा का आधार उनका अनुवाद-ग्रन्थ ही है। अनुवादक के तटस्थ रूप पर ध्यान न देने से ही यह धारणा निश्चित रूप प्राप्त कर सकती है। केवल अनुवाद करने के कारण से ही हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि अनुवादक पठप्रतिपठ प्रनूयित-ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय से सहमत है। इस अनुविद्य-ग्रन्थ की भूमिका नाम के आधार पर हम कोई निश्चित मत स्थापित नहीं कर सकते हैं। मिस्त्रोवैह 'विश्व प्रपंच' की भूमिका में से कई ऐसे उद्धरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे ध्रुव्य की धृत्वाय-धनात्मवाद-धार्मायित होता है परन्तु यह उनकी प्रतिपाद्य विषय के साथ तस्मीमता मात्र है। वे अनुवाद करते समय भी धर्ष्य विषय को इतनी विषयता तथा पूर्ण धार्मिकता का साथ प्रस्तुत करते हैं कि वे वर्णन उनकी अपनी धारणा से प्रभूत प्रतीत होने लगती। हाँ हम इतना धन्य मान सकते हैं कि इस धनात्मवाद ने धार्मिक बंशानिक धनुषधानों में उनकी चेतना में भारतीय परम्पराओं तथा भारतीय वर्णन एव साहित्य द्वारा मस्थापित धार्मिकों को बड़ तीव्र धारणा में अन्तर्गोचर है। उनकी धंध-परम्परागत धारणा अपने चिर-स्थान सेहिनी धन्य है परन्तु धाने बढकर किसी धर्म स्थान पर वह बृहता संटिक नहीं सही है। यही कारण है कि उनके स्वतन्त्र लेखों में साहित्यिक समीक्षाओं में धनात्मवाद की ध्याय दृष्टिकोण नहीं हाती है। 'काम्य में प्राकृतिक धर्म तथा काम्य में रहस्यवा' प्रादि निबन्ध उक्त बात का पूर्ण समर्थन करते प्रतीत होने हैं।

ध्रुव्य की के धन्याय निबन्धों भविष्य विषयन भाग्यताओं की सर्वथा अपेक्षा करते केवल 'विश्वप्रपंच' नामक अनुवादग्रन्थ की भूमिका के आधार

पर ही कोई निर्णय करना मुक्त जी के प्रति प्रत्याय करना है। निश्चयैह इस वैज्ञानिक युग में मानव बुद्धि को चरित करने वाले मूलक वैज्ञानिक आविष्कारों के जाल में रहने वाला कोई प्रतिभाशायी व्यक्ति किसी अजीबोगरीब कारणों को स्वीकार करने का दुस्साहस नहीं कर सकता है। मुक्त जी भी इसके अपवाद नहीं है। सम्प्रदायवादी प्राणियों के प्राण विश्वास उग्रे प्रिय नहीं हो सकते हैं। हम यह निर्दिष्ट रूप से कह सकते हैं कि मुक्त जी उसी बात को स्वीकार करना चाहते हैं जिसका आधार मान हो। तार्किक बर्तन के बिना विश्वास मात्र पर अवलम्बित प्रकृति जीव तथा ब्रह्म का कोई स्वरूप न मखन उनकी वैज्ञानिक प्रतिभा को पाह्य नहीं हो सकता है।

भक्ति के विकास पर अपनी आस्थाओं को प्रस्तुत करते हुए मुक्त जी ज्ञान के महत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। उनका यह एक सिद्धान्त वाक्य है कि ज्ञान प्रसार के भीतर ही भक्ति होती है। वे कहते हैं—“हमारे वहाँ भक्तिमार्गियों की घोर से ज्ञान क्षेत्र की ऐसी अवहेलना नहीं हुई भक्ति ने ज्ञान का काम अपने ऊपर नहीं लिया। पीता का उपदेश तो यही रहा कि जानते जसो भक्ति करते जसो घोर कर्म करते जसो। ज्ञान प्रसार के भीतर ही भक्ति होगी है। जहाँ तक हम ईश्वर को जान पाते हैं वहीं तक उसकी भक्ति कर सकते हैं। उपनिषदों ने ब्रह्म के व्यापक स्वरूप का ज्ञान कराकर एक उपासना का मार्ग जोसा है।” इसी प्रसंग में जाने चलकर वे तत्त्व चिन्तन की अनिवार्यता प्रमाण करते हुए लिखते हैं—“भक्ति मार्ग अपने विद्युत् रूप में नर्मजायता का मायात्मक मा रसात्मक विकास है। यह विकास उपास्य ईश्वर के स्वरूप की प्रतिष्ठा के उपरान्त ही होता है। स्वरूप की यह प्रतिष्ठा तत्त्व चिन्तन या ज्ञान की प्रकृत पद्धति के द्वारा ही हो सकती है घोर सर्बत्र हुई है। परोक्ष के सम्बन्ध में ईश्वर के सम्बन्ध में मूल नित्य सत्ता के सम्बन्ध में जो बातें कही जायेंगी वे वास्तव में कुछ बुद्धि की क्रिया द्वारा ही प्रस्तुत मानी जा सकती हैं। रागात्मिका बुद्धि द्वारा भावोन्माद द्वारा लसी बालों ता दूर रों साधारण बातें भी नहीं मानी जा

सदृशी।”

युग की वैज्ञानिक प्रवृत्ति ने तत्त्वचिन्तन को महत्व प्रदान कर दिया है। शुक्लजी ने उस परोक्ष सत्ता के प्रति अपनी घनास्था प्रकट करने का तो साहस नहीं किया। हाँ उसके प्रति प्रवृत्तित भारतवासी का शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण पक्षरम किया है। इन भारतवासी में जितना अंध उन्हे बुद्धि प्रक्रिया के अनुकूल प्रतीत हुआ है घसबा धाधुनिकतम विज्ञान क्षेत्र के अनुसन्धानों की सीमा से परे दृष्टिगोचर हुआ है उसके प्रति उनकी घास्था का प्रभाव प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। ईश्वर ब्रह्म या परमार्थ तत्त्व के सम्बन्ध में जितनी बात ज्ञान-प्रक्रिया के साम सीबा तथा स्वाभा बिक सम्बन्ध रखने वाली है उनके प्रति शुक्लजी घनास्था प्रकट नहीं करते इसके विपरीत जो केवस भावोन्माद है, हृदयोद्गार है उस पर विश्वास प्रकट करना उनके लिए कठिन था। घनेक स्यात्मक जगत् का जितना अंध व्यक्त है जितना अंध विज्ञान द्वारा बोधपन्थ है उतने अंध के प्रति किर्यी प्रमाण या तर्क की अपेक्षा नहीं है, परन्तु जो अन्वयक है परोक्ष है, जिसके प्रति विज्ञान भी हमारी कुछ सहायता नहीं कर पाया है उसको स्वीकार करने के लिए शुक्लजी ज्ञान तर्क व अनुमान का आधम सेना अनिवार्य समझते हैं। यही कारण है कि 'विश्वप्रपंच' की भूमिका को छोड़कर अन्वय स्वर्गों पर वे ज्ञान सम्मत् एव तर्कानुमोदित ब्रह्म के अस्तित्व व स्वरूप का विरोध नहीं कर सके हैं। शुक्लजी ने मानव ज्ञान को अज्ञान सापेक्ष माना है। अतएव वे इस अिद्वर्न पर पहुँचते हैं कि इस नाम स्यात्मक जगत् के बीच परमार्थ तत्त्व का शुद्ध स्वरूप पुरा-पुरा निरूपित नहीं हो सकता है। उनकी यह धारणा है कि मानव ज्ञान के इन सापेक्ष स्वरूप को देखकर अज्ञान के बड़-बड़े विज्ञान-विगारक तमी दूर पहुँचकर ठिंक गए हैं। घनेक हम यह कह सकते हैं कि घनेक का माग उन्हें विद्यार्थ ही नहीं पड़ता। फलत हम यह कह सकते हैं कि शुक्लजी ईश्वर और जीव का सर्वबा निपध नहीं करता चाहते। इन अिद्वर्न में वे विज्ञान की असम्यता को भी अंगीकार करते हैं। इस अिद्वर्न में वे मानव-बुद्धि के आधम म ही विश्रय हो सकते हैं। उनकी धारणा

यह है कि जगत् के इन बहलते हुए माना रूपों की तह में कोई एक निग्य अपरिच्छिन्न और अपरिणामशील सत्ता है मनुष्य की गोचने वाली युक्ति ज्ञान-बिज्ञास की उन्नत दशा में प्रथम इस ज्ञान तक पहुँचती है। वे भक्ति के विकास पर विवेचना करते हुए यह स्वीकार करते हैं—“साम्य से प्रसन्नोप भी सम्य दशा-को पहुँची हुई मनुष्य प्राप्ति के लिए स्वाभाविक है। जब उसकी बुद्धि इस विराट् विश्व की घोर देखती है तब उसकी अन्तता और प्रबाह नित्यता का अनुमान बैठता है और वह साम्य रूपों के चिन्तन से सन्तुष्ट न होकर अन्त और निग्य समष्टि के चिन्तन की घोर बड़ती है।” यह स्पष्ट है कि मूलतः इस परोल सत्ता के अस्तित्व में अनुमान ही प्रमाण मान कर चले हैं।

ईश्वर—ईश्वर के सम्बन्ध में स्वतन्त्र एवं निर्गुण चर्चा शुक्लजी ने की नहीं की है। यही कारण है कि हम शुक्लजी के सम्बन्ध में कोई सर्व सम्मत लिखित मत की स्थापना नहीं कर सके हैं। भक्ति तथा काम्य सम्बन्धी विवेचनों में यद्यपि उन्होंने विषय का प्रतिपादन वैज्ञानिक तटस्थता में किया है तथापि बीच-बीच में उनका हृदय उचकता झटका प्रकट प्रतीत होता है। हम ऐसे ही स्वर्गों को अपना आधार बनाकर किसी मत की स्थापना करने के लिए विवश हैं। उनके हृदय की अभिव्यक्ति करन वाले विभिन्न स्वतः का यन्त्रीय विस्फेपन यह सकेतित करता है कि मूलतः प्राकृतिक वैज्ञानिक अनुसन्धानों से प्रत्यक्ष प्रभावित हैं। उनकी प्रकृति तभी वैज्ञानिक अनुसन्धानों के निष्कर्षों को स्वीकार करने की घोर ही है। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि उनकी चेतना से अस्तित्व का संघर्ष सर्वथा उच्छिन्न हो गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी भारतीय अध्येय भावनाओं में प्रभावित चेतना ईश्वर के अस्तित्व का अथवा अस्वाभाविक करने को उद्यत न थी परन्तु उनके वैज्ञानिक चर्क विस्फेपन को भी स्वीकार नहीं करना चाहती थी। यही कारण है कि भक्ति विषयक अनेक बातों की चर्चा करते समय उन्होंने ईश्वर सम्बन्धी अनेक मिथ्या कल्पनाओं के प्रति अपनी अनास्था प्रकट कर दी है। उनके माथ ही ईश्वर की

सत्ता के सम्बन्ध में धनाधिकार से मानव-हृदय जो स्वाभाविक अनुभूति करता बना आया है उसका सहसा प्रत्याख्यान भी उनके लिए सम्भव नहीं था। इसीलिए भारतीय भक्ति क्षेत्र के स्वरूप की सर्वा करत समय उनका हृदय रमता प्रतीत होता है। भारतीय भक्ति-पद्धति का जिस रूप में विस्मयपूर्ण व समर्पण उठोने किया है उसे देखते हुए हम उनको धार्मिक एवं धर्मशास्त्रवादी स्वीकार करना पड़ता है। सचचा नास्तिक धर्मात्मवादी या मौनिकवादी उन रूप में ब्रह्म तथा उनकी भक्ति की विवक्षना नहीं कर सकता है।

‘विद्वत् प्रपञ्च’ की भूमि में धुलकी में लिखा है— ‘इसमें मन्देह नहीं कि विकास-मिश्रण के नियमों की अतितापना के लिए यत्रान्तिक निरन्तर प्रयत्न करने जा रहे हैं। जिनके मार्ग की कटिनाय्यां बहुत-बहुत हुए होती जा रही हैं। निर्जीव से मजीब द्रव्य का उत्पत्ति का ही मीथिण। धर योग यह देखने मन है कि रागायनिकों को मजीब द्रव्य की यात्रा में धर तक जा समझना होती घाई है वह इम कारण कि मजीब द्रव्य के मूल म धार्मिक रूप की उग्र टीक चारणा ही नहीं रही है।’ उदरण के अन्तिम वाक्य में विज्ञान की धमकना का सकेत है। क्योंकि मौनिक विज्ञान धमी तक बनना का पूरा रहस्य हृदयम नहीं कर सता है। धनएव धुलकी इमक सम्बन्ध में प्रचलित मठों व विस्मयपूर्ण में प्रकृत हुए हैं। इस क्षेत्र में विज्ञान की धमका उन्होंने सहज तक का धायन मिया है धीर वे इम परिपाम पर पहुँचे हैं कि मनुष्य की कुटि धीर हृदय से मिनकर ईश्वर की प्रतिष्ठा की है। ‘धाम्य में खूबसूरत इम लेख की निम्नलिखित पंक्तियाँ उक्त कथन का समर्थन करती हैं—

“यदि यह कहा जाय कि ईश्वर को किसी ने नहीं देखा है पर ईश्वर भक्ति बरकर होती घाई है तो इसका उत्तर यह है कि ईश्वर को मेल बना कर ही उसकी उगमना धीर भक्ति का धारम्भ हुआ है। ईश्वर को प्रमदुन दानु मिला या स्वामी के रूप म धर करण क सामने गगकर ही प्रम मा भक्ति का धरम धायम्बन मनुष्य जाति ने लाग किया है।

इस उद्धार में यही संकेत मिलता है कि वे ईश्वर प्रतिष्ठा में उसके स्वरूप व गणों के प्रतिपादन में मनुष्य की सहज बुद्धि तथा अज्ञान-करण की सहज-वृत्ति के महत्त्वपूर्ण योग को स्वीकार करते हैं। यही बात 'मया-मक्ति' के प्रथम में कही गई है—'ज्ञानरत्न में ईश्वर की शोभा में हृदय उठने ही घेरे में करये बिलने में इन्द्रियो की सहायता लेकर बुद्धि पहुँचती है और कर्म क्षेत्र में उसकी भावना हम उसे उठने ही मार्गों से परिमित करके करये बिलने की हमारे मन में अगह है। वे यह मानते हैं कि मनुष्य अपने-आप को उस सर्वात्मा का सर्वोत्तम अंश समझता है अतः मानव-समाज की स्थिति रक्षा के लिए उसे बिल मुर्खों की आश्रय-कृपा प्रतीत होती है उन सबकी प्रतिष्ठा वह उस सर्वात्मा में कर देना चाहता है। अपनी आत्मा में बड़ा आश्रय प्रेम आदि स्थिति रक्षा विधायक गुणों का अस्तित्व देखकर वह उस सर्वात्मा में भी इन उपाय मुर्खों की अरुण सीमा स्वीकार करने के लिए विवश हो जाता है और उस वह परम बलात् परम प्रेममय मनुष्य-रूप समर्पण लगता है। वे कहते हैं—“अपने व्यवहार पक्ष में आश्रय-माप्ति के निमित्त मनुष्य के लिए ईश्वर की स्वामुक्त भावना ही उपाय है। स्वामुक्ति ही शायद वह उस परमानुभूति की धारणा कर सकता है।

ईश्वर के अस्तित्व में प्रत्यक्ष प्रमाण के न होने के कारण हमें ही मुक्तियों की तर्कना परम सत्ता को स्वीकार करने में बाधक बन जाए परन्तु उनकी हृदय-वृत्ति इन तर्कना का पूर्वोक्त उपाय देनी प्रतीत नहीं होनी उनकी हृदय-वृत्ति ईश्वर की आश्रय-कृपा को निस्संकोच स्वीकार करने की उद्यत है। अतः के स्वरूप व विचार करते हुए उन्होंने स्वान-स्वान पर यह संकेत दिया है कि ईश्वर की सत्ता-स्वीकृति में मानव-मन में उपाय-नेतिक मुर्खों की प्रतिष्ठा की जा सकती है। उनका हृदय यह स्वीकार करता प्रतीत होता है कि ईश्वर में आस्था रखने में मानव-वृत्त मात्र भूमि पर अतिष्ठित हो सकता है। 'गुनर्षी वा अस्ति मार्गं शीर्षकं सैव का निम्नमित्तम अंश इषी वाग वा समवत करता है—

‘अन के महत्त्व का गामन हाँ ही अज्ञ के हृदय में समुक्त वा अनुभव

होने समता है। उसे जिस प्रकार प्रभु का महत्त्व वर्णन करने में आनन्द आता है, उसी प्रकार अपना सन्तुल्य बयान करने में भी। प्रभु की अनन्त शक्ति के प्रकाश में उसकी असामर्थ्य का उमकी दीन-दगा का बहाना साफ़ चित्र दिखाई पड़ता है और वह अपने ऐसा दीन-हीन ममार में किसी का नहीं देखता। प्रभु के अनन्तशील और पवित्रता के सामने उन अपने में शाय-ही दोष और पाप-ही-पाप दिखाई पड़ने लगते हैं। इस अवस्था को प्राप्त नकर अपने दोषों पापों और त्रुटियों को अत्यन्त अधिक परिमाण में देखता है और उनका भी खोल कर वर्णन करने में बहुत-बहुत संतोष मान करता है। हम अस्मिन्त क्षण क्षण में म कोई उम समय वाक्य नहीं हो सकता। इस प्रकार अपने पापों की पूरी मूखना देने में भी का बोझ ही नहीं घिर का बोझ भी कुछ हलका हो जाता है। मकर के मुधार का भार उसी पर न रहकर बँट-सा जाता है।

अनेक उदारम इस बात का स्पष्ट संकेत करते हैं कि ईश्वर की शक्ति यदि वैज्ञानिक सम्बन्धों के माध्यम से सिद्ध नहीं हो सकती और यदि मानव की शक्ति उसके अस्तित्व को स्वीकार करने में बाधक भी बनती है तो भी मानव की हृदय शक्ति उन स्वीकार करके अन्त मुक्त का उपयोग कर लेती है। बुद्धिजीवी की आस्था है कि यदि मानव अपने हृदय में प्रगवान् के मोकरंजककारी रूप की प्रतिष्ठा कर ल तो उनका आत्मन में मानव क्रत्याप-भाप की ओर आप-से-भाप आकर्षित हो सकता है। वे निम्नलिखित हैं—

“इसी हृदय-शक्ति द्वारा मनुष्य में शीघ्र और महाभार का स्वामी संस्कार जम सकता है। दूसरी कोई पद्धति है ही नहीं। अन्तः शक्ति। अन्तः शक्ति के बीच में अन्तःशक्ति की आभा पटनी देख जिसका। मुक्त न हुआ जा मगवान् की लोक रजक मृति के मपुर प्याम में कर्मों की न हुआ उसकी प्रकृति की कटुता बिलकुल दूर नहीं हो सकती। आस्तिक हृदय से ही में पवित्रता निकल सकती है। इसलिये हम यह अस्मकोष कह सकते हैं कि बुद्धिजीवी हृदय में आस्तिक है। आधुनिक

विज्ञान ने उनके अस्तित्व को अवश्य प्रभावित किया है, हृदय को नहीं। उनके हृदय के ही उन्हें मयबलस्वरूप निर्धारण में प्रवृत्त किया है। इस कार्य में उनके विज्ञान में अस्मिन्मत् अस्तित्व में पर्याप्त सहयोग दिया है। उनकी वैज्ञानिक चेतना न प्रभावित मयबल के स्वरूप के विशेषण के उपरान्त एक ऐसे स्वरूप की प्रतिष्ठा की है जिसे उनकी बुद्धि और हृदय बृत्ति स्वीकार करती परिसिद्ध होती है। यह कहा जा सकता है कि उनकी वैज्ञानिक चेतना और धार्मिक हृदय बृत्ति में एक समझौता हो गया है। इस समझौते के परिणामस्वरूप वे ब्रह्म से वैज्ञानिक स्वरूप का तो प्रत्याख्यान कर बैठे हैं, परन्तु वे प्रत्यक्ष प्रकृति की विज्ञान बेटी पर मयबल के अक्षर और गोचर रूप की प्रतिष्ठा देना चाहते हैं अर्थात् वे सारे ब्राह्म जगत् को मयबल का अक्षर स्वरूप स्वीकार करत परिसिद्ध होते हैं। 'काम्य में रहस्यवाद' की निम्नलिखित पंक्तियाँ इस बात का उल्लेख करती हैं—

‘इम प्रकार जब प्रकृति की विज्ञान बेटी पर अक्षर रूप में उसके भीतर (Immanent) या बाहर (Transcendent) नहीं—मयबल के अक्षर और गोचर रूप की प्रतिष्ठा हो गई तब काम्यमयी उपासना या ध्यान की बाह्य कृती क्रिये मनुष्या के सम्पूर्ण जीवन को उसके किन्हीं एक लक्ष्य या कोने को हो नहीं—रखकर कर दिया। इसी प्रसंग में हमें बतकर दे सकते हैं—“मारा ब्राह्म जगत् मयबल का अक्षर स्वरूप है। समष्टि रूप में वह निश्चय है, अतः ‘मत्’ है अत्यन्त रंजनकारी है अतः ‘मानस्य’ है। अतः इम ‘अक्षरान्त’ स्वरूप का वह प्रत्यक्ष संघ जो मनुष्य की रक्षा में (बना रहते देते अर्थात् मत् को अरिनाश करने में) और रंजन से (सुख और मंगल का विचार करने में) अपार शक्ति के साथ प्रवृत्त बनाई पड़ा वहीं उपासना के लिए, हृदय भगवते के लिए, लिया गया।”

ब्रह्म का वह स्वरूप जो मानव हृदय का मुखमत्ता से विपन्न नहीं बल्कि सफला है वह मनुष्य की ही चेतना को प्राप्त नहीं है। उनकी चारणा यह है कि ब्रह्म की अक्षर सत्ता मानव हृदय के अक्षर क्षेत्र में नहीं है। इसी चारणा के ही कारण उन्होंने निर्मुक्त उपासना के प्रति अपनी अक्षर प्रकट

की है। ब्रह्म के सम्बन्ध में निर्गुण धर्मीय धार्मि धर्मों का प्रयोग का तात्पर्य
विश्लेषण करते हुए वे लिखते हैं कि—

“धर्म्यत निर्गुण धर्मीय इत्यादि निपक्षवाचक धर्मों का धर्मि
प्रायः केवल इतना ही है कि जहाँ तक ब्रह्म हमारी परिमित बुद्धि का
व्यस्त है जिस सीमा तक हमारा ज्ञान पहुँच सकता है जिस गुण समूह तक
हमारी अनुभूति जा सकती है उसके धार्य भी वह धर्म्य है उसका धार्य
उसका स्वरूप न जाने कैसा है उसके धार्य उसके गुण न जाने क्या हैं। पर
व्यस्त धीर धर्मीय को ही लेकर मरण ध्यान करना बँटना है पर उसमें यह
भावना धीर छोड़ देना है कि वह यही तक नहीं है, इनका धार्य भी न जाने
क्या धीर कहाँ तक है।”

मुक्तजी इस व्यवहार सब से परे ईश्वरत्व या ब्रह्मत्व का प्रम या
भक्ति का विषय नहीं मानना चाहते। उसे न केवल चिन्तन का विषय मान
सकते हैं। उनही हृदय वृत्ति तो ब्रह्म-द्वेष के लिए इर्ष्या व्यक्त नाम क्या
तक एवं गोचर जगत् में ही ब्रह्म की सीला के दहन करना चाहती है।
उनकी बुद्धि वृत्ति ब्रह्म की धर्म्यत सत्ता को स्वीकार करने न चाई उप
योगिता नहीं समझनी दूसरी धीर उनही हृदय वृत्ति ब्रह्म के सत् चिन्
धीर धान्दस्वरूप को ग्रहण करने के लिए उद्यत है परन्तु जगत् के
माध्यम से ही। उन्होंने धी वस्तुमात्र ही का दार्शनिक मन्तव्यों पर प्रमाण
डासने हुए अपनी शक्ति धीर धर्मि का परोक्ष तथा प्रत्यक्ष रूप न सकत कर
दिया है। उनका मन्नीर धर्म्यत करने के उपरान्त हम इर्ष्या निष्पत्त्य “र
पहुँचने हैं कि वे इर्ष्या गोचर वृत्त्य जगत् न ब्रह्म के सत्त्विकान्त स्वस्वरूप का
दहन करना चाहते हैं। वे मुत्तार्थितकारी धार्मि न दार्शनिक सिद्धान्त का
परोक्ष रूप न समर्थन भी करत हैं।

धी वस्तुमात्र ही का सिद्धान्त है कि धार्य (ब्रह्म) अपनी धार्मि
धर्मि-निरोधक की धर्मिन्त्य धर्मि न जगत् के रूप न परिवर्त भी होगा है
धीर उसके परे भी रहता है। ब्रह्म का यह परिधान रूप धर्मिन्त्य जगत् धर्मि
या मिष्टा नहीं है, वह भी सत् है। ब्रह्म के विचार या परिचाय वे नाम रूप

ब्रह्म में धनम्य है। उसी प्रकार जैसे मिट्टी से बने बड़े घावि भिन्न-भिन्न होने पर भी मिट्टी से धनम्य हैं। सोने के बने हुए कड़े कुण्डल इत्यादि बहने भिन्न भिन्न होने पर भी सोने से धनम्य हैं। कारण से बना हुआ कार्य उससे धनम्य होता है मिथ्या नहीं होता। इस धार्मिक-तिरोभाव के सिद्धान्त का समर्थन मुक्तजी ने अपने 'काव्य में लोक भाव की साधनावस्था में किया है। वे लिखते हैं—

“सत्, चित् और धान्द-ब्रह्म के इन तीन स्वरूपा में से काव्य और धर्मिक-धर्म 'धान्द' स्वरूप को लेकर बन। विचार करने पर लोक में इस धान्द की धर्मिक-व्यक्ति की ही अवस्थाएँ पाई जायेंगी—साधनावस्था और सिद्धावस्था। धर्मिक-व्यक्ति के क्षेत्र में ब्रह्म के 'धान्द' स्वरूप का घटव घामास नहीं रहता उसका धार्मिक-धर्म और तिरोभाव होता रहता है। इस समय में न तो सदा धीर सर्वत्र महामहाता बसन्त-विकास रहता है, न पुनः समुद्रि पुनः हास-विभास।

मुक्तजी इस सारे विचार व्यापार को ब्रह्म की नीला कहते हैं और यह मानते हैं कि यह समूह जयत् प्रवाह ब्रह्म के रक्षण पालन और रक्षण से बन रहा है। उनकी यह धारणा है कि लोक के रक्षण और पालन में 'ब्रह्म' धन सत्स्वरूप का प्रकाश करता है और रक्षण द्वारा अपने 'धान्द' स्वरूप का। इस धान्द-स्वरूप को सत्स्वरूप से भिन्न नहीं किया जा सकता है। ब्रह्म का यह स्वरूप जहाँ तुलसी की रामप्रति में पुण्डिका चरितार्थ होता इष्टिगोचर हुआ है धनएव मूर की कुण्डलिका की धर्मिका तुलसी की रामप्रति का स्वरूप जहाँ धर्मिक धाम्य रहा है। इष्ट मन्त्र में बस रजः रूप को ही धन चिन्ता बना है। ब्रह्म के पालन रूप का प्रतिपदन मुक्तजी बड़े समता मन्त्रा न करते हैं और उसे तात्त्विक मानते हैं। वे लिखते हैं—

“धन प्रान यह ही मन्त्रा है कि ईश्वर का पालन और रक्षण रूप ही नहीं किया गया। क्या यह रूप केवल मन्त्र के व्यवहार के लिए धारण मात्र है? नहीं यह तात्त्विक रूप है धारण मात्र नहीं है। यद्यपि धनवान्

की शक्ति कम धीर माघ भी करती है पर एक बात है। धय का परिणाम माघ कभी धीर नहीं होता है पर रसा के परिणाम पालन का प्रभाव पक्षधर धीर निरय है। विश्व के भीतर धर्ममय लक्ष्य प्रसय होने रहते हैं— म जाने कितने सोच मल होते रहते हैं—पर समष्टि रूप में विश्व या जगत् बराबर बसा चलता है। धन पापक स्वरूप ही सत्यस्वरूप है माघक रूप प्रसव, अनिरय धीर शक्ति है।

ब्रह्म के इस पापक रूप के साम-ही-मात्र गुणन भी उसके गजक रूप का भी समपन करते हैं। ब्रह्म की इस धामन्दकता के बचन भी इसी व्यक्त जगत् में होते हैं। जगत् की मुक्त-समृद्धि धाम्नि-व्यवस्था हास-विनाश धानोर-प्रयोग सौन्दर्य-मासुर्य मूर्ति-प्रमूर्ति सुपमा-सात्निमा में ब्रह्म की धामन्दकता के साक्षात् दर्शन मित्र हो जाते हैं, परन्तु दुःख-नीड़ा कसह क्येय रचन-सर्वन मुक्त-बीत्कार रदन वन्दन ध्यंग-विनाश में धामन्दकता का निरोभाव रहता है। सोच में कौनो दुःख की छाया को हटाने में ब्रह्म की धामन्दकता शक्तिमय भीषण एवं प्रचण रूप धारण करती है धीर धीरे-धीरे धर्मयण-विनाश की गहन बटा का धारण करती है बह एक मय्य रूप म प्ररट होने लगती है। धमण्य जयकी भीषणता बटुता तथा उपता में भी सौम्यता मधुरता तथा कोमलता रहती है। बहने का प्रभि प्राय यह है कि पुत्रन भी की ईश्वर भावना इन व्यक्त एव शोकर जगत् की उपेक्षा नहीं कर सकती। यह जयन ब्रह्म म मिल नहीं। ईश्वररोपासना प्रकवा शक्ति की दृष्टि म यह विश्व मन्त्रा प्राह्य है त्याग्य एवं उपजपीय नहीं है। उनके शक्ति सम्बन्धी सेतों म ऐसा ममकता है कि ब प्रकृति के म व्यापक प्रसार में ही मयवान् के दर्शन करने के लिए प्रेरणा देने हैं। विश्व में त्रिम व्यक्तिय या बन्तु में सोच का बस्थाप धीर रंजन होता है यह मममता बाह्य कि उन व्यक्तिय या बरनु के रूप में मयवान् ही हुआय बस्थाप कर रहे हैं धीर रंजन कर रहे हैं। यही धारणा गुणन भी को धर वारवाद के मममन में प्रेरित करनी परिसिद्ध होगी है। उनकी ये पत्नियों प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं— 'मनुष्य का इस जगत् के साथ

की अनेक स्फात्मक सम्बन्ध है उस सम्बन्ध को भयवत्सम्बन्ध के रूप में प्रकाशित करने के लिए मैं अबतार पृथ्वी पर प्राण्य है। माता-पिता जिस प्रेम से बालक की रक्षा और पालन करते हैं पति-पत्नी जिस प्रेम से एक-दूसरे का अनुभवित करते हैं भाई-भाई जिस प्रेम की प्रेरणा से एक-दूसरे को सहारा देते हैं जिस कद्रवा से प्राणिमो की रक्षा की जाती है, जिस क्रोध से जन समाज को पीड़ित करते हुए धातवामियों और धत्याचारियों का समन किया जाता है वह प्रेम वह कद्रवा वह क्रोध जयवान् का प्रेम मगवान् की कद्रवा और मगवान् का क्रोध है।" इस वैज्ञानिक युग में मनुष्य जी ईश्वर के किसी ऐसे स्वरूप को मानने को उद्यत नहीं है जो इस व्यक्त जगत् की अद्यतनता करता हो अथवा मानव-हित के लिए अनुपयोगी हो। अबतार के युग में उन्हें व्यक्त जगत् का सम्बन्ध तथा मानव-हित का प्रति पार्थक्य दिखाई दिया है अतएव वे इसका समर्थन कर देते हैं। अबतारवाद यह सम्येष्ट होता है कि अबतार दूर नहीं है हमारे जीवन में मिले हुए है। 'ईश्वर हमसे दूर है निर्गुण है 'बहु बिना पैर के चल सकता है' 'बिना हाथ के मार सकता है 'घोर' सहारा दे सकता है' इत्यादि उक्तिवादी धुक्कजी की ईश्वर मानना के अनुकूल नहीं है। अबतारवाद मगवान् के दर्शन इसी स्वरूप जगत् में कराने का आस्थासन होता है अतएव वे इसका समर्थन करते हैं और कहते हैं— 'जब मगवान् मनुष्य के पैरों से कील बुधियों की पुकार पर शीघ्र ही घाते दिखाई दे और उनका हाथ मनुष्य के हाथ के रूप में बुधियों का समन करना और पीड़िता को सहारा देना दिखाई दे उनकी घातें मनुष्य की घातें होकर घातु निराती दिखाई दे तभी मनुष्य के घातों की तृप्ति हो सकती है।

विज्ञान मानव बुद्धि पर अनुभव रख सकता है, परन्तु उसके रूप को अपने नियन्त्रण में नहीं रख सकता है। धुरग जी अपने ही अपने बौद्धिक विश्वास में ईश्वर बना वा स्वीकार न करना चाहें परन्तु उनकी हृदय बुद्धि उनका गववा श्रयाभ्यास नहीं कर सकती है। अभी बुद्धि में ईश्वर सम्बन्धी पारधामा में वे अपने बौद्धिक विश्वास के अनुरूप ईश्वर के स्वरूप का गमन

की प्रेरणा दी है। पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट की ईश्वर भावना के समान युक्स जी भी व्यवहार पक्ष में ईश्वर-उत्पत्ति को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। वे काण्ट की इस चारणा के समीप प्रतीत होते हैं कि कुछ बुद्धि के द्वारा तो नाम क्यात्मक जगत् से परे बस्तु-उत्पत्ति तक हम नहीं पहुँच सकते पर व्यवहार बुद्धि द्वारा पहुँच जाते हैं। इच्छा या कर्मोच्छा पारमात्मिक बस्तु का प्रामाण्य देती है अर्थात् मानव हृदय किसी पारमात्मिक सत्ता की अनुभूति प्राप्त करने का उपक्रम करता है। परमार्थ पक्ष में युक्स जी भी धार्मिक मूलिकवादी इक्ष्ण तथा विकासवादी चारकिम की द्वारा धार्यसन्तोष प्राप्त करने का उपक्रम करता है। विकासवादी चारकिम की विचारधाराओं से प्रत्यन्त पम्भीरता से प्रभावित हैं अतएव धनात्मवादी धार्मिकवादी पक्ष के सिद्धान्त ग्रन्थ Riddle of the universe (विद्वत् प्रपञ्च) की मूलिका में कहीं-कहीं उनके द्वारा ऐसी बातें कह दी गई हैं कि हम उन्हें कुछ धनात्मवादी मूलिकवादी समझने की भूल कर सकते हैं। उदाहरण के लिए ईश्वर के सम्बन्ध में उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ हम पकित कर सकती हैं—

“ईश्वर साकार है या निराकार सम्भी दाड़ी बाला है कि चार हाक बाला धरती बोमठा है कि संस्कृत मूर्ति पूजने वालों से बोस्ती रखता है कि धासमान की ओर हाक उठाने वालों से इन बातों पर विचार करने वाले पक्ष केबस उपहास के पात्र होंगे।” इसी प्रकार सृष्टि के जिन रहस्यों को विज्ञान बोल चुका है उनके सम्बन्ध में जो प्राचीन पीछणिक कथाएँ थीं बलनाएँ —छ-दिन में सृष्टि-रचना की उत्पत्ति धादम-हीना का जोड़ा औरासी साक मोनि इत्यादि हैं, वे पक्ष धाम तसवार का काम नहीं दे सकती।

इस प्रकार की धन्याम्य ईश्वर विरोधी उक्तियों को देखकर सामान्यतः युक्स जी को भी धनात्मवादी नास्तिक कहा जा सकता है परन्तु उनके नारे साहित्य की साहित्यिक धामोषमाधों का तुलनात्मक धाम्यपन तथा पम्भीर विद्वेषण के द्वारा यह निषय समुचित एवं सुक्लियुक्त नहीं कहा जा सकता है। इन उक्तियों से हम केबस इतना ही कह सकते हैं कि वे विद्वत्

के ईश्वर-सम्बन्धी विभिन्न मतों सम्प्रदायों में प्रचलित धर्मशास्त्रिक एवं निर्मूल अर्थविश्वासों भ्रान्त आस्थाओं को उपहासास्पद समझते हैं और विज्ञान-प्रतिरोधी तर्कसम्मत ईश्वर के स्वरूप की प्रतिष्ठा देखना चाहते हैं। विश्वप्रपञ्च की भूमिका से उनका यह कथन कि सब मतों और सम्प्रदायों में धर्म और ईश्वर की जो सामान्य भावना है उसी का एक प्रकृत मिश्रित पथ के अन्तर्गत आ सकता है—हमारी बात का समर्थन करता है। व्यक्ति के स्वरूप व विकास के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए अथवा भ्रष्टाचार तथा गुप्तरीति का काव्य-सम्बन्धी विक्षेपताओं का विवेचन करते हुए उन्होंने अपनी इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया है।

प्रकृति—गुप्तरीति की भक्ति पद्धति की प्रशंसा करते हुए वे इस व्यक्त अथवा अथवा प्रकृति के महत्त्व को स्वीकार करते हैं—“अतः यदि परमात्मा को भक्त्या ही देखना है तो उन्हें व्यक्त अथवा के सम्बन्ध से देखना चाहिए। इस सम्बन्ध के बिना आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध व्यक्त ही नहीं हो सकता।” गुप्तरीति के दार्शनिक अन्तर्द्वेषों पर विचार करते समय आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को अभिव्यक्त करने वाली प्रकृति के प्रति उनकी आस्थाओं और मान्यताओं से भी परिचय प्राप्त करना उपयोगी होगा।

गुप्तरीति ने इस प्रकृति को ब्रह्म की व्यक्त अथवा के रूप में चित्रित किया है और इसे ब्रह्म की प्रत्यक्ष विभूति ही कहा है। इसी आधार पर प्रकृति की प्रत्येक गति में उन्हें लीलायें और मनस के वर्णन होते हैं। इस प्रकार प्रकृति उनकी दार्शनिक बुद्धि के साथ ही सम्बन्ध रखती प्रतीत होती है। प्रकृति का प्रत्यक्ष रूप-गुप्तरीति की अन्तर्द्वेष, भीषण-अन्तर्द्वेष, लीला-प्रपञ्च वदार्थ उनके अनुगत का धारण का नाम है। साहित्यिक धारणायामों के प्रयोग में प्रकृति के प्रति उनके बौद्धिक वर्णन का धारण नहीं मिलता है। 'ईश्वर प्रपञ्च' की भूमिका से प्रकृति का साहित्यिक विवेचन गुप्तरीति ने किया है। इस विवेचन का मूल आधार दार्शनिक वैज्ञानिक अनुभव ही है। इस लक्ष्य विवेचन पर विज्ञानवाद के सिद्धांतों की छाया

निश्चित रूप से परिसंज्ञित हुआ है। उसकी अपनी शक्ति या मन-व्यापना का कोई प्रयास प्रमाणित नहीं होता। घट पुष्प भी की प्रकृति सम्बन्धी बापनिक चारवा को स्पष्ट करने के लिए हम भारतीय दर्शनशास्त्र में बसिण प्रकृति के स्वरूप का तथा विकासवाद और विज्ञान के अन्त में स्वीकृत स्वरूप का संक्षिप्त परिचय करावा कर उसकी प्रकृति सम्बन्धी निम्नी प्रकृति तथा स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

भारतीय दर्शनशास्त्र में अड़ घोर चेतन का भव स्वीकार किया गया है और प्रकृति को निर्जीव एवं अचल माना गया है। सांख्य दर्शनकार कपिल मुनि ने इस प्रकृति के प्रथम दो भेद प्रकृति और विकृति के नाम से किये हैं और फिर घाट प्रकृतियाँ और शोतह विहृतियाँ स्वीकार की हैं। जिसके धाये कोई तथा तत्त्व उत्पन्न हो उसका प्रकृति कहा गया है और जिसके धाये कोई तथा तत्त्व उत्पन्न न हो उसको विहृति नाम दिया गया है। विहृति स्वल्प से स्पृण अन्व्यापक एवं व्यक्त होती है और प्रकृति नृष्ण व्यापक तथा अनुमानयोग्य होती है। आकाश वायु, अग्नि जल पृथ्वी ये पाँच मूल और श्रोत्र त्वचा नेत्र रसना तथा ध्यान ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय और बापी हृण पाद उपस्थ तथा पुत्रा ये पाँच क्रमेन्द्रिय और मन ये शोतह विहृतियाँ हैं। ये अन्व्यापक स्पृण एवं व्यक्त हैं। इनमें धाव कोई तथा इव्य नहीं बनता है। इसी प्रकार मूल प्रकृति शब्द स्वर्ग रूप रत पन्थ की तन्मात्राएँ, अहंकार और महत्त्व य घाट प्रकृतियाँ हैं। मूल प्रकृति को छोड़कर दोष मात प्रकृति-विहृति दोनों हैं। गन्धादि शोतमात्राओं में पाँच मूलों की मूर्ति होती है अतः ये प्रकृतियाँ भी परन्तु उनकी उत्पत्ति 'अहंकार' प्रकृति में हुआ है अतः ये विहृतियाँ भी हैं। इसी प्रकार अहंकार महत्त्व में भी य उत्पन्न होती है अतः यह विहृति भी है। इसी अन्त में महत्त्व में भी व्यापक नृष्ण प्रकृति का अनुमान करके भारतीय सांख्य दर्शन पञ्चमिषे अतः तत्त्व पुंस्य का प्रतिपादन करता है। सांख्य दर्शन में बसिण शौबीम अड़ तत्त्व तीन गुणों वाले हैं। तत्त्व रजन् घोरतमन् ये तीन गुण परिज्ञान योग्य हैं अर्थात् अग्ने पहले अर्ध को छोड़कर चिरी हुनरे अर्ध को ग्रहण करने

बाधे हैं। यह परिणाम भी दो प्रकार का होता है—साम्य और विषम। तीन गुणों का साम्य परिणाम ही अनुमान मध्य अभ्यस्त अर्थात् प्रथम मूल प्रकृति अथवा केवल प्रकृति है। भारतीय दर्शन शास्त्र के अनुसार उस प्रथम मूल प्रकृति में चेतन तत्त्व से एक प्रकार का लीन उत्पन्न होकर इन तीन गुणों के अन्तर विषम परिणाम उत्पन्न कर देता है और यही प्रथम अङ्क तत्त्व महत्तत्त्व है। इसी से मध्य अङ्क तत्त्व अर्थात् अणुत्पत्तिगोचर होने लगता है।

प्राधुनिक विज्ञान क्षेत्र का विकासवादात्मक सिद्धान्त इस चेतन परम तत्त्व की प्राथम्यता नहीं समझता है। इस सिद्धान्त के अनुसार अणुत्पत्ति पदार्थों का आविर्भाव और मूल कारण 'ईपर' है। उसी की तरगावली से विद्युत् प्रकाश मध्य और गर्मी पैदा होती है। उसी के सूक्ष्माणुसूक्ष्म कणों को 'इलेक्ट्रॉन' कहते हैं। इन एलेक्ट्रॉनों के संघात से ही विद्युत् होती है और यही शक्ति (Energy) के रूप से स्पूम अकार में 'मैटर' (Matter) कहलाती है। 'मैटर' की विरल दशा को 'गैस' तरल दशा को भिन्न-भिन्न और ठोस दशा को 'सामिड' कहते हैं। ईश्वर से उत्पन्न ये पदार्थ अनिमित्त होकर और आकर्षणानु कर्षण के नियम से अकारण मति में हो जाते हैं। कुछ दिनों में यही अणु सूर्य हो जाते हैं। सूर्य में गर्मी और गति के कारण अणु (ring) पड़ जाते हैं और पृथक होकर दूसरे बड़े बने जाते हैं। उन ग्रहों में हमारे उपग्रह बनते हैं। इसी प्रकार के ग्रहों में से हमारी पृथ्वी भी एक ग्रह है और पृथ्वी पर गति से ही बनी है। इसका बनाने वाला कोई ईश्वर या परमात्मा मानने की प्राथम्यता नहीं। यह पृथ्वी पहले गर्म थी और-औरे ठण्डी हुई मनुष्य बने उनमें मृत्तिका और जीवन प्रारम्भ हुआ। अङ्क में ही जीवन प्राणी पैदा हुआ। कहने का अर्थिप्रार्थ यह है कि प्राधुनिक विज्ञान अजीब और अजीब का भेद स्वीकार नहीं करता। अजीबों के मन में यह मनीषता भी एक प्राकृतिक पदार्थ है क्योंकि यह चेतन केवल प्रोटोप्लाज्म (Protoplasm) है। यह एक तरल पदार्थ है जो कि कार्बन (Carbon) जलीय तत्व (Hydrogen) नाइट्रोजन

(Nitrogen) कास फोरस (Phosphorus) यात्रि बाउह मीतिक पदाथी से ही बना है । इस प्रकार बीज-तत्व भी मीतिक पदाथी का ही परिणाम है और प्रकृति सर्वथा स्वतन्त्र रूप में ही इस चरण पर जगत् की सृष्टि कर बेती है इसके लिए किसी चेतन परम-तत्व के मानने की आवश्यकता नहीं । आधुनिक दर्शनशास्त्र और प्राकृतिक विकासवाद प्रथम मीतिकवाद में मीतिक धन्तर बड़ से चेतन को पुनः मानना ही है । इन दोनों बातों के सामान्य विवेचन को समझ रखते हुए हम मुस्मजी की प्रकृति सम्बन्धी चार पाथों को समझ सकते हैं । मुख्य भी इन व्यक्त अवत् के मूल तत्व प्रकृति को नित्य मानते हैं । 'विश्वप्रपंच' की सृष्टिका में वे लिखत हैं—“विश्व में चित्तना इत्य है उतना ही सदा से है और सदा रहेगा—उतसे से न बट सकता है न बढ़ सकता है ।” भारतीय दर्शन चारा में भी प्रकृति को अनादि एवं नित्य तत्व माना गया है । प्रकृति की नित्यता में उनके पुनो की परिणाम-सौसता में प्राकृतिक वैज्ञानिकों तथा भारतीय चार्शनिकों में कोई मीतिक धन्तर नहीं है । मुख्यजी की स्थिति भी इन सम्बन्ध में सर्वथा स्पष्ट है । यह पूरा तत्व स्वयं गति करने अवता है प्रथम इसमें गति देने के लिए किसी चरम चेतन तत्व की आवश्यकता है इस सम्बन्ध में मुख्यजी का मुख्य वैज्ञानिक परत की धार ही परिनिमित्त होता है । वे प्रकृति को स्वभाव में ही गतिशील मानते हैं । वे कहते हैं—

“इत्य और गति (गति) का नित्य सम्बन्ध है । एक की आवश्यकता दूसरे के बिना हो नहीं सकती । न गति के बिना इत्य रह सकता है और न इत्य के प्रथम के बिना गति काम कर सकती है । अपने चारों ओर की कुछ हम देखते हैं वह सब इत्य और गति का ही कार्य है ।”

प्राकृतिक वैज्ञानिकों के ईस्वर सम्बन्धी कल्पनाओं तथा मीतिक धन्तरों के प्रार्थन व विचर्यन (अपसरण) के सिद्धांतों के प्रति भी मुख्य जी की धारणा प्रतीत होती है । मूल और गति के परस्पर गारबत सम्बन्ध की चर्चा करने के उपरान्त मुख्यजी लिखते हैं—“गति की इन दोमुठी (प्रार्थन-विचर्यन) चाल में जगत् की स्थिति है । यदि गति अपने एक

ही रूप में कार्य करती तो जगत् की घनकल्पता न रहती या यों कहिए कि जगत् ही न होता ।”

यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि युक्सजी की भारतीय शार्डनिका की विचारधारा के प्रति सर्वथा घनास्था नहीं है। इन भौतिक विज्ञान-बासों के प्रति आस्था केवल विरोधी प्रमाणा क प्रमाण के कारण से ही है। यद्यपि उनके घन-करण से संस्कार रूप से भारतीय शार्डनिकों की घास्पाएँ विद्यमान हैं। इन्हीं संस्कारों के कारण ही वह स्वान-स्वान पर घपने निबन्धों में शर्द्धनघास्त्र से प्रतिपादित तथ्यों को घपने पक्ष के समर्थन के लिए प्रस्तुत कर देते हैं। ‘काम्य म लोकेर्मदम की सरमनास्त्रा’ शीर्षक निबन्ध में छांस्त्रवर्द्धन में प्रतिपादित तीव्र गुणों की तथा परम वेतन तत्व की शर्द्धा की कर ही है—“जबकि घञ्जस्तारस्त्रा से छूटी हुई शर्द्धति के व्यक्त स्वरूप जगत् म घास्त्रि से घन तत्त्व तन्त्र रजस्, घीर तमस् तीनों मुख रूद्धेप तव छास्त्रि रूप से लोक के बीच मंजल का विधान करने वाली बह्य की घानन्दकसा के प्रकाश की यही पद्धति हो सकती है कि तमोनुज घीर रजानुज दोनों तत्त्वगुण के घबीन होकर उसके इशारे पर काम करे।” यही घास्त्रा उगई वैद्येयिक शर्द्धन के परमानुबाद की प्रघसा में प्रयुज करती है। भौतिक विज्ञान में परमाणु (Atoms) का बड़ा महत्त्व है। नबीन विज्ञान बतलाता है कि प्रत्येक परमाणु कई इर्द्धकद्रोनों से बना है। इर्द्धकद्रोन एक-दूसरे में पिपकते नहीं प्रस्तुत दूर-दूर रहते हैं। किस प्रकार हमारे ताप गज दूर-दूर रहकर भी एक तारापिण्ड या तीर जगत् कहलाते हैं। इसी तरह घनेक इर्द्धकद्रोनों से बना द्रुषा ऐटम भी हैं। इन परमाणुघों के सम्बन्ध में मन्त्रजी के विस्वास का घाचार घाधुनिक भौतिक विज्ञान ही है। वे निघत हैं—

“परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं जाना। परमाणु की बात छोड़ हीजिए घधुघों की मूरधना भी कल्पनानीत है। तीव्र से तीव्र मूरधमवर्द्धन यत्र उनका दर्शन नहीं करा तजने। उनका निगधन उनक बासों द्वारा गधित घास्त्रि के महारे में ही निघा जाता है। जल का ही घधु मीजिए जा इर्द्ध के

हमारे सामने हैं। भाग्य के बराबर होगा है। एक इस धनु की याचना करने वाले परमाणुओं की सूक्ष्मता का इसी स सम्बन्ध कर सीजिए। विचारण तो उनमें भी सूक्ष्म है। हिमाचल समाया गया है कि हाइड्रोजन के एक परमाणु में १० घोर शक्ति के एक परमाणु में १० विचारण होते हैं। इन विचारणों के बीच का अन्तर उनकी सूक्ष्मता के हिमाचल में बहुत अधिक होता है—उतना ही होता है जितना सौर जगत् के प्रकाश के बीच होता है। अपने परमाणु जगत् के अन्तरिक्ष में परस्पर गति सम्बन्ध होकर निरन्तर उसी प्रकार वेग में भ्रमण करते रहते हैं जिन प्रकार सौर जगत् में ग्रह उपग्रह भ्रमण करते हैं। इसी का नाम है—'अवकाश'। परमाणु के भीतर भी वही व्यापार हो रहा है। जो ब्रह्माण्ड के भीतर। 'अणोरणा यान् महतो महीयान् वासी वात समभिर।'

भारतीय वैज्ञानिक वर्तमान में परमाणुवाद का उत्सव हुआ है। इस

काल के सिद्धान्तानुसार सारे स्तूल पदार्थों के मूल उपादान कारण निरवयव सूक्ष्म परमाणु हैं। पृथ्वी जल आदि भूतों के अपने-अपने निरवयव सूक्ष्म एवं तिर्य परमाणु हैं। उपादान कारणमूल इन परमाणुओं के परस्पर संयोग का इन भूतों की उत्पत्ति में साधारण कारण माना गया है और इसके अनिश्चित काल प्रायः तत्त्व को भी पृथक् इष्ट के रूप में स्वीकार किया है। मुसमरी में वैज्ञानिक के परमाणुवाद की प्रशंसा करके भारतीय दर्शन के प्रति अपनी वास्त्वा का संकेत दिया है, परन्तु वेगल तत्त्व के प्रति उनकी भारतवा वैज्ञानिक नीतिकवाचियों के अनुभव हैं। वे लिखते हैं—“भ्रमभूतों और परमाणुओं का सम्बन्ध वैज्ञानिक से उसी रीति में निर्धारित किया है जिन रीति में प्रायः रसायन शास्त्र में—यह हमारे लिए कम गौरव की बात नहीं। इस प्रायः के रूप पर भी वैज्ञानिकवाचियों के सिद्धान्त से प्रभावित हैं और वैज्ञानिक दर्शन के अनुसार परमाणुओं को निरवयव एवं अणु स्वीकार नहीं करत। प्रायः वैज्ञानिकवाचियों के अनुभवान के परिणामस्वरूप प्रायः यह सिद्ध हुआ है कि परमाणुओं (Atoms) के भी अणु विद्यमान हैं। अणु सूक्ष्मरी इन अणु

सम्मानों के प्रति अपनी सहमति प्रकट करते हुए परमाणुधर्मों के बख्श-बख्श होने के प्रमाणों का उल्लेख करते हैं—“पर इधर यूरेनियम रेडियम धारि कई नए मूल इष्टियों के मिलने से ऐसे प्रमाण भी मिल गए हैं। मुख्यतः परमाणु तत्व के सम्बन्ध में तो वैज्ञानिकों की खोज के प्रति पूर्ण सहमत प्रतीत होते हैं परन्तु सजीव और निर्जीव के सम्बन्ध में उनकी धारणा का स्वरूप स्पष्ट नहीं क्योंकि वह नियमवादात्मक नहीं है। उन्हें इस बात की सम्भावना अचरम प्रतीत होती है कि यदि वैज्ञानिक अनुसन्धान इसी प्रकार से धीरे बढ़ते चले गए तो प्राया है कि एक दिन विज्ञान धार्म-अधार्म के अन्तर को समाप्त कर देगा। वे अपने युग में इस अन्तर का अन्वेषण नहीं देख सके हैं। भविष्य में उनकी सम्भावनामान्य कर सके हैं। उनका यह निम्नलिखित कथन प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत है—

“पहले के वैज्ञानिकों का परमाणुधर्मों के भीतर की बलिघक्ति की ओर ध्यान नहीं था इसमें इष्ट की मूल अघटियों को समझने के लिए उन्हें धर्म का बाह्य से आरोप करना पड़ता था। पर अब जैसा कि पहले कहा जा चुका है रेडियम के मिलने से परमाणु के भीतर विद्युच्छक्ति के कर्मों का पता मिल गया है जिससे सजीव और निर्जीव इष्ट का अन्तर बहुत कुछ कम हो गया है। इस सम्बन्ध में मुख्यतः रासायनिकों की असाधना में अग्रगण्य नहीं है। वे यह स्वीकार करते हैं कि अभी तक उन्हें सजीव इष्ट के मूल धार्मिक रूप की ठीक धारणा नहीं हो सकी है। सजीव इष्ट के इस धार्मिक रूप को केवल पुरातन पौराणिक कथाओं के आधार पर या केवल भारतीय धार्मिकों के प्रमाण पर ही सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इसके लिए वैज्ञानिक प्रयोगों के आधार की अपेक्षा है। यदि धार्मिकवादी कहीं अपने अनुसन्धानों से अंतर्गत की नियत सत्ता सिद्ध कर दें तो मौलिकवाद को विचर्य होकर धार्मिकवादियों की भावना के धागे सिर झुकाना पड़ेगा।

नोट—भारतीय धार्मिकों ने जगत जीव तत्व की सत्ता स्वीकार की है। जीवों के अतिरिक्त सम्बन्ध में भी भारतीय विश्वास है कि जीवों के अन्तर्गत परस्पर अतिरिक्त है। अन्त में जिनसे भी प्राणी है उन सब

की घपनी घलम स्थिति है। घपने-घपने कमों के अनुसार जीव को विभिन्न योनियाँ प्राप्त होती हैं। इसके विपरीत विकासवाद इस स्थिर योनि के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। विकासवाद की धारणा के अनुसार पृथ्वी पर केवल वस्तु उत्पन्न हुई थीर-थीरे बढ़ती-बढ़ती जाती गई। पहले वहाँ न समस्थिति थी और न जन्तु, किन्तु दोनों को उत्पन्न करने वाली चेतनता थी। यह ध्यान रहे कि यह चेतनता जब प्रकृति से ही उत्पन्न होगी है। उस चेतनता को एक साखा एक कोष्ठकारी घमीबा (Amoeba) बन गई। ये घमीबा इतने बढ़े कि उनके जामे-पीने की विच्छेद होने लगी। वे नाना प्रकार के प्रयत्न करने लगे। उनकी संरचना जो पारोचिक प्रयत्न और मानसिक प्रयत्न में बसवान् की और जीवन सभाम में बढ़ गई बहुत किर बढ़ी। भोजन की तंगी के कारण सभाम जारी रहा और बहुत दिन के बाद मरते-बचते तथा परिस्थिति के अनुसार धाकार-प्रकार बदलत-बदलते मछली मंडक सर्प पक्षी बैल बन्दर बगमानक और मानव उत्पन्न हुए। जीव की उत्पत्ति तथा विभिन्न रूपों को धारण करने के सम्बन्ध में शुक्लजी उक्त विकासवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। वे पौराणिक धन्व विश्वासों को स्वीकार नहीं करते। वे यह नहीं मानते कि जीव की योनियाँ स्थिर हैं और उनकी संख्या धारि से ही चौरामी साज है। वे तो विकासवाद के समान ही एक जाति के जीवों से ही दूसरी जाति के जीवों की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। 'विश्व प्रपञ्च' की मूमिका के य लक्ष प्रमाण स्वल्प है—

“विक्राम-सिद्धान्त के पहले लोगों का विश्वास था कि इन समय पृथ्वी पर जिनने प्रकार के जीव हैं सबके सब मृष्टि के धारि में एक साज ही उत्पन्न किये गए। डारविन ने यह बिलाकर कि एक ही प्रकार के धारि मूत्र जीवों ने कमन नाना प्रकार के जीवों का विधान होगा धारि है स्थिर योनि सिद्धान्त का पूर्वकथ ने मण्डन कर दिया है।”

विकासवाद के जीव-विक्राम सम्बन्धी इन सिद्धान्त का समर्थन उन्होंने प्रकृति के सुधारक परिवर्तन के नियम से किया है और इन सम्बन्ध के

प्राचीन आर्थात्मक मत की बर्बादी भी की है। इस मत के अनुसार किष्क या लमीर से महाकवि के समान चैतन्य उत्पन्न होता है। मुस्तजी भी सर्वा बला या जीवन को किष्क परम्परा ही स्वीकार करते हैं। जीवों के घनेक क्वाण्यकता के मुस म प्रकृति के गुणात्मक परिवर्तन के निबन्ध का उल्लेख करते हैं। वे कहते हैं—

‘एक प्रकार के जन्तु से दूसरे प्रकार के जन्तु एकद्वारा ही तो उत्पन्न नहीं हो गए। दोनों के बीच की बंध-परम्परा में ऐसे जन्तु रहे होंगे जिनमें कोई बहुत बोनो के लक्षण रहे होंगे। इस प्रकार के मध्यवर्ती जन्तु कुछ तो घब भी मिलते हैं और कुछ की छरियाँ मृगध में मिलती हैं।

शकलजी उल्लेख में विकासवाद का स्पष्ट समर्थन प्राप्त होता है। इसी समर्थन के प्रसंग में उन्होंने चर-अचर पदार्थों के भेद को भी स्वीकार नहीं किया है और वे तथाकथित अचर पद-पौधों में भी जीवत्व को स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं—

‘यहसे तोय समझने के कि जन्तु चर हैं और पौधे अचर। मनुस्मृति में लिखा है कि उद्भिज्ज स्वधरासर्वे जीवकाण्ड प्ररोहिणः। पर वास्तव में चर-अचर का भी भेद नहीं है। बहुत से ऐम जन्तु हैं जो अचर हैं जैसे स्वयं श्रुया धारि और बहुत से ऐम सूक्ष्म समुद्री पौधे होते हैं जो अचर जन्तु पिरते हैं।

उन बर्णनों में यह स्पष्ट है कि मुस्तजी ने जीव-विकास के स्वतन्त्र लोच नहीं की। केवल विकासवाद के सिद्धांतों तथा लार्वा को धपनी चारणा का आचार बनाया है। भारतीय धारणा केवल प्रयत्न को जीवन का सहाय नहीं मानती उनमें दृष्ट्य रागद्वेष मूल-बुल्ल धम-अधम की सत्ता भी अनिर्धार्य स्वीकार की जाती है। पौधों में मूल-बुल्ल की लक्षणा शकलजी ने भारतीय वैज्ञानिक पर जगदीशचन्द्र बगु के कथनानुसार स्वीकार की है। मुस्तजी की वैज्ञानिक दृष्टि प्राचीन और धार्मिक विश्वासों के अनुसार यह मानने के लिए उद्यत नहीं है कि प्रम-परमात्मा ने जिन जीव को जिन मानि के योग्य समझ उसको उनी यानि में उल्लेख किया। इसमें यह भी स्पष्ट

है कि वे यह भी नहीं मान सकते कि इय सृष्टि की उत्पत्ति का प्रधान कारण जीवों के कर्म और परमेस्वर का ग्याय ही है। उनकी बुद्धि में इस उक्ति में भी कोई सार नहीं कि जीव अनादिकाल से कर्म करत चम धा रहे हैं और परमात्मा भी अनादिकाल से उनको कर्मफल देता चम धा रहा है।

मानव—जीव-विकास प्रक्रिया में शुक्लजी ने अपनी प्रकृति विकास का ही माध्यताओं की ओर प्रवृत्त की है परन्तु सकल जीवों में भयत्त मानव के स्वरूप कर्तव्य धार्मिक सम्बन्ध में अर्थात् करत हुए व नैतिकता के प्रबल-अमर्षक गिठ होते हैं। विकासवाद की माध्यताएँ उन्हें कम सीन्ध के धर्मीकरण से दूर नहीं कर सकी हैं। आरम्भ मत्त या अज्ञानिक विकासवाद उनकी बुद्धि-वृत्ति को ही प्रभावित कर सके हैं। उनकी हृदय-वृत्ति उस प्रभाव से कुछ मुक्त अवस्थ रही है और वह मूलभासी अज्ञानिकों की धर्ति मानव को पशुस्य देखने से रोकती रही। उनकी कल्पना में मानव धारण्य उन्मृष्ट प्राणी है सामान्य पशुरूप नहीं है। यद्यपि वह विद्वत्विधान का धुड चतन धरा है तथापि उसमें प्राणी एवं जीव तत्त्व की उच्चकोटि की सत्ता का बोध होगा है। वह जीवन विकास की अरम सीमा है। मानव में दो वृत्तियाँ बुद्धि और हृदय मूलरूप से विद्यमान है। इन दोनों वृत्तियों का समारिमकतावृत्ति और बोधवृत्ति भी कहा जा सकता है। मानवता का पूर्ण विकास इन दोनों वृत्तियों के समंजस्य धर्मान् मत्त में है। सम्पूर्ण मानवता इन्हीं वा वृत्तियों के धापार पर टिकी हुई है। अपने धाव या मनोविकार धीर्यक मत्त में शुक्लजी लिखते हैं—

“धनुवृत्ति के इन्ड ही में प्राणी के जीवन का प्रारम्भ होगा है। उच्च प्राणी मनुष्य भी केवस एक जोड़ी धनुवृत्ति लेकर इस संसार में धाता है।” कल्प के छोटे-से हृदय में पहल मृग धीर बुध की सामान्य धनुवृत्ति मर के लिए जमह होती है। पेट का मरा या लामा रहना ही ऐसी धनुवृत्ति के लिए पयाण होगा है। जीवन के प्रारम्भ में लरी दामों क विह्व हैंसता और रोना देने जाते हैं। पर वे धनुवृत्तियाँ विमरुप मानाग्य म्प में रहनी हैं विमोय विमोय विमोय की ओर विधाय-विमोय म्पा में ज्ञानपूवक उन्मुक्त नहीं होती।

मानव का यह प्रारम्भिक स्वरूप पशु-सुव्य होता है। इस रूप के मूल में केवल रागात्मिका ब्रुति अपने दो रूपों—सुख-दुःख के साथ रहती है, परन्तु प्राणबुद्धि के साथ-साथ अशुभामात्र को जब नामा विषयों का अपनी दूसरी ब्रुति बुद्धि के द्वारा बोध होने लगता है तो उसकी मूल दोनों अनुभूतियों के विभिन्न विकार उत्पन्न होने लगते हैं। इन्हीं ही मनोविकार या भाव पुकारा जाता है। मानवता का विकास यही से प्रारम्भ होता है। पशुता और मानवता का भेद इसी बिन्दु पर होता है। इसके विस्तार के साथ ही मानवता का स्वरूप प्रस्फुटित होने लगता है। मानवता और पशुता के अन्तर को सुखलक्षी इसी रूप में ग्रहण करते हैं। हृदयबुद्धि और बुद्धिबुद्धि के परस्पर सहबोध से मानव प्राणी का जो स्वरूप उद्भावित होने लगता है वह अत्यन्त प्राणियों की अपेक्षा अत्यन्त उच्चकोटि का होता है। 'कविता क्या है' शीर्षक सेर में मनुष्यता की उच्चभूमि का निर्देश करते हुए सुखलक्षी ने मानवता सम्बन्धी उक्त चारणा को इन शब्दों में अतिव्यक्त किया है—

“पशुत्व से मनुष्यत्व में जिस प्रकार अधिक ज्ञान प्रसार की विशेषता है उसी प्रकार अधिक भाव प्रसार की भी। पशुओं के प्रेम की पहुँच प्रायः अपने छोटे बच्चों या जिताने-पिलाने वालों तक ही होती है। इसी प्रकार उनका बोध भी अपने सताने वालों तक ही जाता है स्वयं या पशुमात्र को सताने वालों तक नहीं पहुँचना। पर मनुष्य में ज्ञानप्रसार के साथ-साथ भावप्रसार भी क्रमशः बढ़ता गया है। अपने परिवारों अपने सम्बन्धियों अपने पड़ोसियों अपने वैश्यामियों तथा मनुष्यमात्र और प्राणीमात्र तक से प्रेम करने भर की जगह उसके हृदय में बस गई है। मनुष्य की खोटी मनुष्य को ही सताने वाले पर नहीं चढ़नी चाय बँस और कुने-बिस्सी को सताने वाल पर भी चढ़नी है। पशु की बेरना बैसकर भी उसके भेद समझ होते हैं।”

मनोविकार — उक्त उद्धरण में यह स्पष्ट है कि सुखलक्षी की चारणा के अनुसार मानवता के लिए ज्ञानप्रसार तथा भावप्रसार की अत्यन्त आवश्यकता है। मानव अपनी जानिद्वारा के द्वारा अपने पास्वर्तों विश्व का सर्व-सर्व ज्ञान प्राप्त करने लगता है और वही ज्ञान उनके हृदय में विभिन्न

मानवों के संचार के लिए मार्ग खोलता है। शुक्लजी का इस सम्बन्ध में यह एक सिद्धान्त मान्य है कि ज्ञानप्रसार के मीटर ही भावप्रसार होता है। धर्म मानव को इस ज्ञानप्रसरि ने उष्णकोटि का प्राप्ती बना दिया है। धर्म प्राप्तिवर्षों के समाप्त उसकी मुख-मुखमूलक अनुभूतियाँ विभिन्न विषयों के ज्ञान का प्राथम पाकर विभिन्न रूपों को धारणा करने लगती हैं। ये ही विभिन्न रूप मानव मनोविकार कहलाते हैं। वे इस सम्बन्ध में लिखते हैं—

“धर्म हम कह सकते हैं कि मुख धीरे-मुख की मूल अनुभूति ही विषय भेद के अनुसार प्रेम हास उत्साह धारण्य कोष मम करना बुधा इत्यादि मनोविकारों का बटिल रूप धारण करती है। ‘मनोविकारों या भावों की अनुभूतियाँ परस्पर तथा मुख या बुद्ध की मूल अनुभूति से ऐसी ही भिन्न होती हैं जैसे रासायनिक मिश्रण परस्पर तथा ध्वनन संयोजक इन्हीं से भिन्न होती हैं। विषय-बोध की विभिन्नता तथा उससे सम्बन्ध रखने वाली दृष्टियों की विभिन्नता के अनुसार मनोविकारों की ध्वननरूपता का विकास होता है।”

शुक्लजी मनोविकारों को मानव के लिए परमोपयोगी मानते हैं। मानव का काम मुख बुद्धात्मक मूल अनुभूति से नहीं चल सकता है। उससे लिए इनके माध्य में जन्म ज्ञान बटिल भावों—मनोविकारों की निरन्तर धारण रहता है। वे इन्हें ही समस्त मानव जीवन के प्रवर्णक रूप में स्वीकार करते हैं। वे समझते हैं कि मनुष्य की प्रकृतियों की मह में धनक प्रकार के भाव ही प्ररक रूप में पाए जाते हैं। धारणरत्ना-धारणरत्न लोकरत्ना-लोकरत्न समाज व्यवस्था-शासन व्यवस्था सर्वमानवता साहित्यकला विस्तार धारिणी प्रकार की मानव प्रकृतियों के मूल में यही मनोविकार ध्वनने किसी न-किसी रूप में रहते हैं। यही कारण है कि जन्होंने प्रधानतम मनोविकारों के स्वरूप व लक्षण बड़े विस्तार के साथ ध्वनने लिखने में बर्णित किए हैं।

मनोविकारों का वर्गीकरण—मूल अनुभूतियों के आधार पर शुक्लजी ने मनोविकारों के दो वर्ग किये हैं। मुखबोध में प्रेम लोभ उत्साह, भय मक्ति को परिपक्व किया है धीरे-धीरे सर्व में भय करना लोभ लज्जा

पुगा तथा ईर्ष्या को परिमणित किया है। मानव के स्वरूप ज्ञान के लिए इनके स्वरूप का ज्ञान प्राथमिक है अतएव उन्होंने इनके स्वरूप की विस्तृत व्याख्या की है।

मुक्तबर्ष प्रेम—मुक्तबर्ष भ सर्वप्रथम प्रेम और मोह की बर्षा की जा सकती है। 'मोह और प्रीति धीरवृत्त निबन्ध में युक्तजी ने प्रेम के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रेम मोह का एक सार्वत्रिक रूप है। उनका प्रेम का लक्षण यह है—

“विशिष्ट वस्तु का व्यक्ति के प्रति होने पर मोह वह सार्वत्रिक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। ‘मोह सामान्योत्प्लुत होता है और प्रीति विशेषोत्प्लुत है। कहीं कोई धरती भीड़ मुमकर बीड़ पड़ना मोह है। किसी विशेष वस्तु पर इस प्रकार मुग्ध रहना कि उससे कितनी ही धरती-धरती वस्तुओं के सामने जाने पर भी उक्त विशेष वस्तु से प्रवृत्ति न हटे, यह या प्रेम है। ‘साधारणतः मन की समक यदि वस्तु के प्रति होती है तो मोह और किसी प्राणी या मनुष्य के प्रति होती है तो प्रीति कहलाती है।”

यह स्पष्ट है कि युक्तजी प्रेम को व्यक्तिनिष्ठ मानते हैं वस्तुनिष्ठ नहीं। यही कारण है कि उन्होंने अन्तर्भूमि के प्रेम और प्रेम स्वदेश प्रेम को स्वान-मोह मात्र स्वीकार किया है। वे इन्हें मोह का प्रसस्त रूप तो मानते हैं परन्तु प्रेम मात्र के अन्तर्गत नहीं मानते। अपनी इस धारणा के आधार को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने व्यक्ति और वस्तु के प्रति भावना के अन्तर को स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं—“वस्तु मोह के आधार और धामन्त इन दो पक्षों में बिल-बिल कीटों की सत्ताएँ रहती हैं पर प्रेम एक ही कीटों की दो सत्ताओं का योग है, इसमें कहीं अधिक गुड़ और पुर्ण हुआ है।”

प्रेम के स्वरूप की इन विमर्शना पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने प्रेम का आधार धरती प्रीति के स्वरूप की भी बर्षा की है। वस्तु मोह का आधार धरती मोह वस्तु के भीतर भावना नहीं रहना अतएव वह उस पर अपना

प्रभाव डालने का यत्न नहीं करता परन्तु व्यक्ति-तोमी धर्मात् प्रमी अपने प्रिय की धम्मवृत्ति पर प्रभाव डालने में तत्पर रहता है। वे लिखते हैं—
 “प्रभाव डालने की यह भावना प्रम उत्पन्न के साथ ही आती है और बड़ी बनी जाती है। किसी वस्तु पर लुब्ध होकर कोई इस विष्ठा में नहीं पड़ता कि उस वस्तु को मालूम हो जाए कि वह उस पर लुब्ध है पर किसी पर लुब्ध या प्रेमासक्त होते ही प्रेमी इस बात के लिए धातुर होने लगता है कि प्रिय को उसके प्रेम की सूचना मिल जाए। प्रेमी यह चाहने लगता है कि जिस प्रकार प्रिय मुझे धम्मा सपता है उसी प्रकार मैं भी प्रिय को धम्मा लूँ। वह अपना सारा धम्मापन किसी-न-किसी बहाने उसके सामने रखना चाहता है।”

प्रेम की पूर्णता के लिए दो हृदयों—धायक और धामम्बन की धम्मिलता परमावश्यक है। सुकलबी के शब्दों में दो हृदयों की यह धम्मिलता पलित जीवन की एकता के अनुभव-वच का द्वार है। इसी एकता की तुलना पुराण की प्रतिष्ठा के लिए प्रेमी प्रम के प्रादुर्भाव काल से यत्नशील रहता है, क्योंकि वह समझता है कि इसकी प्रतिष्ठा हो जाने पर ही उसके प्रेम को पूर्ण सफलता मिल सकती है। उन्होंने इसी प्रसंग में प्रेम के धर्मगत विद्युत् रूप की भी वर्णना की है। इस लिखते हुए प्रेम में तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा भी धर्मिचार्य नहीं रहती। वे कहते हैं—

“गुण्टि का विद्यान न होने से प्रेम के स्वरूप की पूर्णता में कोई गुण्टि नहीं आ सकती। जहाँ तक ऐसे प्रेम के माध गुण्टि की कामना या धवृत्ति का लोभ लगा दिखाई पड़ता है वहाँ तब तो उसका उत्पन्न प्रकट नहीं होता। पर वहाँ धात्मगुण्टि की वासना विरत हो जाती है या पहले ही से नहीं रहती वहाँ प्रेम का धर्मगत विकारा रुपा निर्मल और विद्युत् रूप दिखाई पड़ता है। ऐसे प्रेम की धर्मिकम प्रतिष्ठा धर्मगत उच्च भूमि पर होती है जहाँ सामान्य हृदयों की पहुँच नहीं हो सकती। इन उच्च भूमि पर पहुँचा रुपा प्रेमी प्रिय से कुछ भी नहीं चाहता है। ‘ऐस प्रमी के लिए प्रिय की गुण्टि या मुक्त से धर्मय अपनी कोई गुण्टि या मुक्त रह ही नहीं

जाता । प्रिय का सुख-सन्तोष ही उसका सुख-सन्तोष हो जाता है ।”

जिस प्रकार प्रेम के सामान्य और विशेष रूप की रूपना सुकनजी ने की है इसी प्रकार उन्होंने प्रेम के प्रभाव को दृष्टिगत रखते हुए प्रेम के दो निम्न स्वरूपों में से एक स्वरूप के प्रति अपनी रधि भी प्रदर्शित की है । वे लिखते हैं—

‘प्रम का प्रभाव एकान्त भी हाता है और लोक-जीवन के नाना क्षेत्रों में भी दिखाई पड़ता है । एकान्त प्रभाव उस अन्तर्मुख प्रेम में देखा जाता है जो प्रेमी को लोक के कर्मक्षेत्र से खींचकर केवल दो प्राणियों के एकछोटे से सप्तार में बन्द कर देता है ।”

सुकनजी की रधि लोक-जीवन से तद्विप्लव प्रेम की ओर है । उन्हें वह एकान्तिक प्रेम प्राण नहीं जो प्रेमी को रोगी बनाकर एक कोठरी में बन्द कर देता है । लोक-जीवन-तद्विप्लव प्रेम अपना मधुर और अनुसन्धकारी प्रकाश जीवन-यात्रा के नाता पक्षों पर फेंकता है । इसी के प्रभाव से प्रेमी को अपने पास पास चारों ओर सौन्दर्य की छाया फैली दिखाई पड़ती है । इसी ज्योति से अचमगाते अगन् के बीच वह बड़ उत्साह और प्रफुल्लता के साथ अपना कम सौन्दर्य अपने प्रिय को दिखाना चाहता है । सुकनजी की उपयोगितावादी प्रवृत्ति प्रेम के ऐसे ही स्वरूप को प्रहल कर सकती है । उनकी यह प्रवृत्ति निम्नलिखित पंक्तिपा में स्पष्ट म्भनकती है—

“हम उन प्रम का अधिक मान करते हैं जो एक सजीवन रस के रूप में प्रेमी के सारे जीवन-यम को समशील और सुन्दर कर देता है । उसके सारे कर्मक्षेत्र को अपनी ज्योति में अगमना देता है । जो प्रेम जीवन की नीरछटा हटाकर उसमें सरसता ला दे वह प्रेम मय्य है । जिस प्रेम का संनकारी प्रभाव विद्वान् की बुद्धि कवि की प्रतिया चित्रकार की बसा उद्योमी की उत्साहना और है उमाह एक बरगबर कीला दिखाई दे उन हम भगवान् का अनुबह समझते हैं ।

सुकनजी ने प्रेम के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए तुलनात्मक पद्धति से भी उपयोग लिया है । करुणा और प्रेम में एक समता यह है कि ये दोनों

वृत्तियाँ कोमल हैं और दूसरों को द्रवित करने वाली हैं । द्रवित करने की प्रक्रिया में विषमता है । दूसरे के हृदय में प्रेम का संचार करने के लिए विभिन्न विशेषताओं तथा बेपटारियों की आवश्यकता रहती है । इस पर भी यह निश्चय नहीं होता कि उनसे दूसरे में भाव-संचार हो ही जाएगा । दूसरी ओर कष्ट का पात्र होने के लिए केवल अपनी पीड़ा का प्रबलतम भाव पर्याप्त होता है । यही कारण है कि प्रेमी अपने प्रिय के द्रव्य-करण में प्रेम संचार करने के लिए सबप्रथम अपना उत्पन्न करने का प्रयास किया करता है । इसी प्रकार प्रेम का अज्ञात भी द्रव्य होता है । उनके शब्दों में अज्ञात का व्यापार-स्वयं विस्तार है प्रेम का एकान्त । प्रेम में अत्यंत अधिक है और अज्ञात में विस्तार । यदि प्रेम स्वयं है तो अज्ञात अस्वयं । प्रेम में कोई मध्यस्थ नहीं पर अज्ञात म मध्यस्थ-अपेक्षित है ।

शुक्लजी ने प्रेम के कारणों पर भी प्रकाश डाला है । सामान्यतः रूप भोग को प्रेम का प्रबलतम भाग माना जाता है । प्रायः किसी के उत्कृष्ट रूप-गुण पर मुग्ध होकर ही मानव उमका प्रेमी बन जाता है परन्तु इसमें अल्प साहचर्य भी प्रेम का कारण होता है । इन साहचर्यजन्य प्रेम में यह विशेषता होती है कि ज्ञान-रंग साहचर्यकाल में तो कुछ अक्षरों पर ही रह-रहकर स्थिर होता है पर विद्योप-काल में बराबर उमड़ा रहता है । माई-बहुत पिता पुत्र इन्हीं मित्र से भरकर फिर-परिचित पशु-पक्षी तथा का प्रेम इसी प्रकार होता है । देहा प्रेम भी इसी साहचर्य-जन्य भाव का ही एक रूप है ।

प्रेम की अल्प मात्राओं में अविद्यता का संकेत भी शुक्लजी ने दिया है । व कहते हैं—

“यही एक ऐसा भाव है जिसकी अज्ञानता हैसकर भी की जाती है और रोकर भी जिसके अज्ञान हीर्ष निरवधान और अल्प भी होते हैं तथा हर्ष पुनः और उत्पन्न-कर भी । इसके विस्तृत आत्मन के भीतर आत्मधारणक और बुद्धात्मक दोनों प्रकार के मनोविकार धा जाते हैं । “ कोई और भाव ऐसा नहीं है जो आत्मजन के रहने पर तो एक प्रकार की अनावृत्तियाँ और बेपटारें उत्पन्न करे और न रहने पर अविद्युत दूसरे प्रकार की । ”

लोग—के भी लोगों मुखात्मक और दुःखात्मक पक्ष होते हैं। लोग का स्वरूप घुलती ने इन दोनों में वर्णित किया है—

किसी प्रकार का मूल या धातु देत वाली वस्तु के सम्बन्ध में मन की ऐसी स्थिति की जिसमें उम वस्तु के धर्माव की भावना होवे ही प्राप्ति साम्प्रदायिक या रसा की प्रबल इच्छा पक्ष परे लोग कहते हैं।”

चिन्तक वस्तु की प्राप्ति की स्थिति में लोग मुखात्मक है परन्तु उसके धर्माव में या धर्माव की प्राप्ति से वही दुःखात्मक हो जाता है। लोग का दुःखात्मक पक्ष मुख्य वस्तु की अध्याप्ति में धर्माव धर्माव की स्थिति में स्पष्ट होता है। सामान्यतः लोग सामान्य स्वरूप ही है, क्योंकि उसका प्रथम संबंध सामान्य धर्माव किसी वस्तु का बहुत इच्छा लगता उससे बहुत मूल या धातु का अनुभव होता है। मानव का यह लोभ तभी प्रकट होता है जब वह मनुष्यात्मक धर्माव के साथ दुःखात्मक धर्माव का संबंध होता है। जब तक मनुष्य किसी धातुधर वस्तु की प्राप्ति की उमे दूर न करने की उसकी रसा की इच्छा प्रकट नहीं करता तब तक उसका लोभ व्यक्त नहीं होता है। लोग के इन पक्षों के प्रतिरिक्त घुलती ने लोभ के धर्माव की भी व्याख्या प्रस्तुत की है। लोग का सबसे प्रबल धर्म प्रिय वस्तु की इच्छा है। स्थिति प्रिय में इच्छा के भी दो रूप होते हैं—(१) प्राप्ति या साम्प्रदायिक की इच्छा (२) दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा। इनमें से प्रथम मुख्य एक चिन्तक वस्तु की प्राप्ति या साम्प्रदायिक की इच्छा के भी दो रूप होते हैं। हम ऐसी वस्तु को प्राप्त करके उमे या तो धर्माव इच्छा लोभ रखना चाहते हैं जिसका किसी धर्म के न हो या हम केवल इच्छा धर्माव की इच्छा करते हैं, जिसका बहुत से लोग एक साथ रख सकते हैं। साम्प्रदायिक की इच्छा के लोभों के कारण लोग के मूल स्वरूप में भी धातु पक्ष जाता है। यदि हम किसी ऐसी घुलती वस्तु को जिसे धर्म लोग भी चाहते हैं, धर्माव धर्माव लोभ रखना चाहते और धर्म लोभों को उनके लोभ तक नहीं धार देने का यह लोभ विरोधप्रस्त एक प्रतिपत्तात्मक होया। जिस वस्तु को लोभ धर्म धर्माव धर्माव चाहते हैं बहु बहुत न लोगों को एक लोभ

में साकर लड़ा कर बनी है। इस प्रकार की इच्छा वाला लोभ मानवों के पारस्परिक मंगल का कारण बन जाता है। इसके विपरीत यदि हम किसी मुन्नप्रद वस्तु में लुब्ध होकर भी अपने उतने ही मान्निष्ठ्य में रक्तता चाहते हैं तबने में धन किसी के मन में विरोध उत्पन्न नहीं होगा और धन्य लोभ भी हमारे समान ही उतम मन्गक रख सकता है ता लाभ का यह रूप विरोध प्रसन्न न होकर सम्भाव्यक होगा। लोभ मन्गभी इच्छा का भूमण रूप प्रसन्न की इच्छा धर्मान् मुन्नप्रद वस्तु को दूर न करन या लप्ट न होने देने की रक्षा की इच्छा धर्मान् मुन्नप्रद वस्तु को दूर न करन या लप्ट न होने देने की इच्छा है। रक्षा की इच्छा कभी दो प्रकार होत है—(१) स्वायत्त रक्षा की इच्छा (२) स्वभिरपेक्ष रक्षा की इच्छा। इन दोनों प्रकारों का कारण भी लोभ के पूर्ववर्ति विरोधप्रसन्न तथा सम्भाव्यक यदा यदा रूप हा जाते हैं। स्वायत्त रक्षने की इच्छा प्रायः धन्य उपयोग या उपयोग की वासना में सम्बन्ध रखती है इसमें वह कभी-कभी लोभों का लप्टकती है और साग लप्टका विरोध करते हैं। ऐसी स्थिति में भी यदि मरक्य वस्तु के उपयोग या उपयोग में धन्य वनों को कोई बाधा नहीं पहुँचनी है तो किसी एक का उतने धन्य वनों में रक्षना हमारे को बुरा नहीं लगता। दूसरी ओर स्वभिरपेक्ष रक्षा की इच्छा लोभ को लमा रूप प्रदान करती है जिसमें परस्पर मैल की वृद्धि होगी है। यह इच्छा मानव समाज को लकना के मूत्र मर्जजन में महामक बन जाती है।

लोभ के स्वरूप के उक्त विवरणों की वृष्टि में रक्षने हुए धुषयवी में लोभ के मिश्र तथा प्रसन्न रूप की भी चर्चा की है। जो लोभ हमारे की मुल-दान्नि या स्वच्छन्दता का बाधक होता है अधिकतर वही मिश्र ममम्भ जाता है। पूर वलित विरोधप्रसन्न लोभ इसी प्रकार का हाता है। इसी प्रसन्न म उन्ही लोभ के विषय के दो भेद बलित किये हैं। धन्य जाना धन्य रूपका धन्य धर तथा धन लोभ क नामान्य विषय है। प्राधुमिक धर्म धन्यका क धनुमार बानुमिमित्त विषयों में धन्यता मुन्नप्रिण कायक के धन्यों म मर धार-यक वस्तुओं प्राण कराने की शक्ति प्रमिष्टि हो गई है धन्यक में ही विषय या दुर्बल प्रत्यक मानव क साम के सामान्य विषय बन

गए हैं। फलतः इन द्विको का मोम विरोधग्रस्त हो गया है। लक्ष्य की इस एकता से समाज में एक-दूसरे से मुद्रार्थों के लिए सर्प की बृद्धि होने लगी है। मुस्लिमी के सर्वो में यदि मनुष्य समाज में सबके मोम के लक्ष्य विरुद्ध-मिलन होते तो मोम को कुछ सहन करने नहीं न मिलते। ऐसी स्थिति में एक के लोभ से दूसरे को कोई कष्ट न पहुँचता। विरोधग्रस्त भाव का विषय यदि विधेय हो जाता है तो उसकी यह विशेषता अपेक्षाकृत कम हो जाती है। वे कहते हैं—“यदि किसी को मुलाबजामुन या विधेय बूटी की छीट बहुत अच्छी लगे और वह उसे प्राप्त करना या न देना चाहे तो उसके इस मोम पर बहुत कम लोगों का ध्यान बाणपा और जिनका ध्यान जाएगा भी उन्हें बड़ खटकेगा नहीं। ऐसे मोम को वह बहि कहेंगे।

यह स्पष्ट है कि मुस्लिमी सामान्य विषयगत प्रतिपेक्षारमक मोम को विधेय-विषय-यत्न मोम की अपेक्षा अधिक मित्य समझते हैं। विधेय-विषय यत्न मोम के स्वरूप को उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

‘एक मोम से दूसरे भाव का निवारण भी होता है जिससे मोमी में अन्य वस्तुओं के त्याग का आह्वय पाता है। विधेय-विषय-यत्न मोम यदि बहुत प्रबल और सख्त हुआ तो मोमी के त्याग का विस्तार बहुत बढ़ जाता है। मोम तो उभ एक विधेय निबिष्ट वस्तु से है परत उसके धितिरिक्त अन्य धनेक वस्तुधा का त्याग वह उसके लिए कर सकता है। विस्वामिह एक नाव के लिए घपना चारा राज-माट देने को तैयार हो गए न। अन्य का त्याग अनन्य और सख्त मोम की पहचान है।

मोम को प्रायः दुर्गंध माना जाता है। मुस्लिमी ने इन मनोविकार के एक प्रयत्न रूप की भी चर्चा की है। लक्ष्य की कुछ तथा धान्य देने वाली कई ऐसी वस्तुएँ होती हैं जिनकी रखा के लिए सब मिल सकते हैं। उसके प्रति मोम होने पर परस्पर एकता रह सकती है। ऐसी स्थिति उसी घबस्वा से उत्पन्न हो सकती है जबकि एक की इच्छा दूसरे की इच्छा की बाधक न होकर मायक हो। सब एक ही वस्तु का मोम रखने वाले बहुत से मोम सम्भाव के साथ रह सकते। यदि एक सम्प्रदाय के मोम घपने चर्चस्वा

की रसा की इच्छा रखते हैं और यह चाहते हैं कि यह सब प्रकार सुमिश्रित एवं सुरक्षित हो जाए तो यही इच्छा जतमें एकठा का सुन बन जाएगी। पर का प्रेम धाम का प्रेम वैश का प्रेम इसी प्रकार के प्रसस्त सोम के उदाहरण कहे जा सकते हैं। सोम के इस प्रसस्त रूप का उत्प्रेषण मुक्ताजी ने इन शब्दों में किया है—

‘सोम का सबसे प्रसस्त रूप वह है जो रसामात्र की इच्छा का प्रवर्तक होता है जो मन में मही वासना उत्पन्न करता है कि कोई वस्तु बनी रहे चाहे वह हमारे किसी उपयोग में आए या न आए।

सोम का मानव जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इस प्रभाव का स्वरूप भी उगहोने बधित किया है। सोम की उत्पत्ति किसी वस्तु में मिलने वाले सुत की सम्भावना से होती है परन्तु उस वस्तु की घोर सोमी भाव्या निरन्तर बना रहता है। उसकी प्राप्ति सन्निधि या निरन्तर उपभोग भी मानव को सुप्त नहीं करता। सोम के परिणामस्वरूप एक प्रथम कृति हृदय में उत्पन्न होती है जिसे ‘धसन्तोप’ कहते हैं। मन का सोम इसी प्रकार का है। इसकी प्राप्ति होने पर भी घोर प्रयत्न की इच्छा बराबर बनी रहती है जिससे मनुष्य सदा धातुर और प्राप्ति के प्रानन्द में विमुक्त रहता है। उसका सारा धन्तकरण सदा प्रभावमय रहता है। उसके लिए उस वस्तु का होना न होना एक सपना हो जाता है। सोम की धतिप्रयत्ना से उत्पन्न होने वाले इस विचार का बर्तन मुक्ताजी ने इस प्रकार किया है—

“धसन्तोप धामाक कल्पना में उत्पन्न हु ल है पर जिस किसी में यह प्रभाव-कल्पना स्वाभाविक हो जाती है मुझ से उसका नाता सब दिन के लिए टूट जाता है। न किसी को देखकर वह प्रसन्न होता है और न उसे देखकर कोई प्रसन्न होता है।

सोम धरणी बधित सीमा का धतिप्रयत्न करके मानव की प्रथम मनो कृतियों के समन का कारण बन जाता है। इसी रूप के कारण वह धर्म्य मन् मनोविकारों में विलक्षण रूप धारण कर लेता है। पराकाष्ठा तक पहुँचा सोम मानव के हृदय में रचित हान करना जोष घृणा धादि सभी मन्त्र

घाबनाघों को निवास देता है। फलतः उसमें से मानवता का ही लोप होने लगता है। लोम की दमनकारी प्रवृत्ति का शरीर सुकनजी में इन घाबों में फिमा है—

“जो लोम पात-अपमान के घाब को कदना धीर दया के भाव को स्याव-अस्थाय के भाव को यहाँ तक कि अपने कष्ट-निवारण वा सुखभोग की इच्छा तक को दबा दे वह मनुष्यता कहीं तक रहने देगा ? मोमियों का दमन मोपियों के दमन से कितनी प्रकार कम नहीं जाता। लोम के बल से वे काम धीर काम को जीतते हैं, सुख की भासना का त्याग करते हैं, मान-अपमान में क्षमा भाव रखते हैं।”

सुकनजी ऐसे मोमियों के घात-करण को धर्ममृत मानते हैं। वे ऐसे लोम को भी दूषित समझते हैं और मानवता की घातक शक्तियों पर लोम का शासन स्वीकार करते हैं। मानव की सुखानुभूति से उत्पन्न होने वाला यह मनोबिदार मानव जीवन में दुःख की बनी छाया प्रसारित कर देता है।

उत्साह—उत्साह अपने मूल रूप में धान्य की उमंग है परन्तु इस उमंग का लक्षण जब तक बिया-व्यापार या उसकी भावना के साथ नहीं दिखाई जाता तब तक उसे उत्साह की उमा नहीं ही जा सकती है। फलतः कर्मभाव के सम्पादन में तत्परता पूर्ण धान्य उत्साह का सुकन माना जाता है। सुकनजी का उत्साह का लक्षण इनी बारपाका परिचायक है। वे कहते हैं—“साहसपूर्व धान्य की उमंग का नाम उत्साह है।” उत्साह एक विधित प्रवृत्ति है। इसके अन्वय में धान्य की उमंग शक्ति धीर साहस मिले जाते हैं। इसी प्रसंग में सुकनजी ने ‘शक्ति’ धीर ‘साहस’ के स्वरूप तथा उनके पारम्परिक धारण को भी स्पष्ट कर दिया है—

‘बुधबाध बिना हाथ-नीर हिमावे धीर प्रहार लहने के लिए तैयार रहना साहस धीर कठिन-नै-कठिन प्रहार सह कर भी डमह से न हटना धीरता नहीं बाएगी।’

उत्साह में ऐसे ताहम धीर बर्ष का संचार होता है परन्तु इन दोनों के साथ धान्यपूर्व प्रवृत्ति की निताम्य पावत्यकता है। उत्साह का पूर्ण स्वरूप

घानन्द साहस धीर ब्रह्म के योग से ही विकसित होता है। उल्साह कविपय क्षेत्र पर यदि ध्यान दिया जाए तो उल्साह कर्म धीर उसके फल की किसी बुझी धनुमुक्ति है। शुक्लजी के बिचार से उल्साही का ध्यान प्रादि न घनत तक पूरी कर्म श्रद्धा पर न होता तथा उसकी सफलता-रूपी समाप्ति तक फैला रहता है। उल्साह का मूल प्रथम घानन्द पुत्र कर्मभावना से फलभावना से तथा विषयान्तर से प्राप्त हो सकता है। घानन्द के इन तीन रूपों के आधार पर उन्होंने उल्साह की उत्तम कोटि का निर्धारण किया है। उनकी दृष्टि में उत्तम कोटि का उल्साह उल्साह नहीं है जिसके मूल में कुछ कर्म भावना से उत्पन्न घानन्द का योग रहता है। फल की इच्छा मात्र हृदय में रखकर जो प्रयत्न किया जाएगा वह प्रभावमय धीर घानन्द धूम्य होने के कारण निर्जीव-मा होगा। घटएक फलभावना से उत्पन्न घानन्द कर्म-पथ पर चलने के लिए निरन्तर प्रेरणा नहीं देता। इस स्थिति में फल प्राप्ति की सम्भावना के अनुपात में ही उल्साह का बग मन्द धीर तीव्र होगा रहता है। यदि कभी यह सम्भावना मन्द हो जाती है तो उल्साह का ब्रह्म भी क्षीय पड़ जाता है। कर्म भावना में उत्पन्न घानन्द की उमंग में पूर्ण उल्साह फल-प्राप्ति की सम्भावना की अपेक्षा नहीं रखता घनएव वह निरन्तर बना रहता है। शुक्लजी इसी उल्साह का वास्तविक उल्साह मानते हैं। व निश्चये है—

“कर्म भावना-प्रधान उल्साह बराबर गहरा रहता है। फलान्तर उल्साही असह्य होने पर क्षिप्त धीर बुझी जाता है पर कमानक उल्साही केवल कर्मनिष्ठान के गुण की अवस्था में ही जाता है। घन हम यह मक है कि कर्म भावना प्रधान उल्साह ही मरणा उल्साह है। फल भावना-प्रधान उल्साह तो मोह ही का एक प्रच्छन्न रूप है।”

मरणा उल्साही कर्म में घानन्द की धनुमुक्ति करता है धीर उने निरन्तर भी घानन्द में उल्लेखना जाती रहती है क्योंकि उने यह कर्म ही फलरूप प्राप्त होता है। इसी प्रयत्न में शुक्लजी न विषयान्तर में प्राप्त घानन्द के प से उत्पन्न होने वाले सामान्य कोटि के उल्साह का भी उल्लेख किया

है। वे कहते हैं— 'जन्मी-जन्मी धामन्द का मूल विषय तो कुछ और रहता है पर उस धामन्द के कारण एक ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न होती है जो बहुत-से कामों की ओर हृदय को साव्य प्रसर करती है। 'इस हृदय और उत्पन्नता को भी लोग उत्साह ही कहते हैं।

उत्साह की मानव जीवन में उपयोगिता निर्विवाद है। इसी के सहारे मानव जाति वैश्व धर्म की रक्षा के लिए भीषणतम युद्धों में भाग लेता है और प्राणा को सन्देश में डाल देता है। बोर से बोर कष्ट सहने में हिम मण्डित समन-बुम्बी दुर्गम ब्रह्म-सिंहासने तक पहुँचने में समुद्र की पनाह बमराशि के सौजन्य में ध्वज देहों की भाषा में मानव की मही उत्साह वृत्ति प्रहासक मित्र हुई है। शारीरिक कष्टों के साथ ही साथ बोर मानसिक कष्टों को भी उत्साह के सहयोग में ही मानव ने सहन किया है। इसी उप-योगिता का अनुभव करके बुधनजी उत्साह की गिनती सर्वसुखों में करना चाहते हैं। इसीलिए वे परपीडन डकैती प्रादि धर्तव्य कर्मों के सम्प्राशन में धामन्दपूर्ण समन को उत्साह नहीं कहना चाहते बल्कि ऐसे साहस और धामन्द के योग को निन्द्य स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं—

“धामन्द रक्षा पर-रक्षा हैस रक्षा प्रादि के निमित्त साहस की जो उमय देवी जाती है उसके लक्ष्य के परपीडन डकैती प्रादि कर्मों का साहस कभी नहीं कहेंगे लक्ष्य।

धडा—गुणगुणक मनोविकारों में धडा का भी परिपक्व किया जाता है। गुणगुण में धडा की परिभाषा निम्नलिखित प्रकार में की है—

“जितनी मनुष्य में जन-साधारण से विद्येय गुण का अल्प का विकास होकर उमक सम्पन्न में जो एक स्वाधी धामन्द पठति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे धडा कहते हैं। धडा महत्त्व की धामन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ गुण्य बुद्धि का संचार है।” धडा मानव-हृदय में धामन्दपूर्ण इत्यन्ता है और यह एक ऐसी वस्तु है जिसे मानव अपनी ग्याप-बुद्धि को गुता से लोल कर पड़ेक व गुण-धर्म प्रादि के अनुपात में धारण करता है। यह एक प्रकार का गुण्य है जो कि हृदय प्रीति के सर्वसुखों का उत्कर्षों के बचन में बैठे है।

इस प्रकार शुक्लजी भद्रा के धर्मियों में धादरभाव कृतज्ञता महत् स्वीकृति और धानन्द का प्रतिपादन करते हैं। जो व्यक्ति धन्य के प्रपुत्र्य बुद्धि नहीं रख सकता धन्य के उपकारों के बदले में अपने हृदय कोमलता एवं सद्भाव नहीं ला सकता और जो धन्य के महत्त्व को स्वीकार नहीं कर सकता उमने हृदय में भद्रा का नकार नहीं हो सकता है।

भद्रा के तीन विषय हो सकते हैं। हम किसी की सहज प्रतिभा को देखकर उसके प्रति प्रपुत्र्य-बुद्धि धारण करके विशेष धानन्द की अनुभूति कर सकते हैं। इस प्रतिभा के दर्शन कलाकृतियों में वैज्ञानिक आविष्कारों में तथा धन्याय्य क्षेत्रों में प्रदर्शित मष्टमताओं में कर सकते हैं। भद्रा का दूसरा विषय धीम एव सदाचरण है। हम सदाचारी के प्रति भी भद्रा रख सकते हैं। इस स्थिति में हम उसके कम सी-रव स प्रभावित होकर उसके महत्त्व को धानन्द सहित स्वीकार कर लेते हैं और उसे यह निश्चय करवाते कि उसके कर्म मानव-समाज के लिए सर्वथा हितकर हैं। भद्रा का

सरा विषय साधन-सम्पत्ति है। हम किसी की साधन-सम्पत्ता से भी प्रभावित हो सकते हैं और उसके प्रति धानन्दपूज्य धादरभाव रख सकते हैं। कोई व्यक्ति महत्त्व प्रतिभा के अभाव होने पर भी निरन्तर धन्याय्य साहित्य-मपीठ आदि कलाओं में ज्ञान विज्ञान में धारीरिक व्यक्ति में मष्टमता प्राप्त कर लेता है तो वह भी हमारे इस भाव का विषय बन जाता है। मने ही वह हम साधन-सम्पत्ता का दुरुपयोग भी करे

उसके प्रति धादर भाव रह सकता है। ऐसे व्यक्ति के प्रति जो भद्रा होती है वह साधन-सम्पत्ता पर होगी है। साध्य की पूर्णता पर नहीं अपना हम उमके धन्याय्य-धम और धारीकी से ही प्रभावित होत हैं। मानव-हृदय पर प्रभाव डालने का कलामीन्द्य का विचार हम इन स्थिति में नहीं करते।

शुक्लजी भद्रा के इन तीनों विषयों में से धीम सम्पत्ति भद्रा को ही उलम मममने हैं। वे मिलते हैं—

“धीम कमा और साधन-सम्पत्ति-भद्रा के इन तीनों विषयों में से विमवा ध्यान अनुपुत्र्य को पहले होना चाहिए और विमवा बीचें। इसका

वेबड़क वही उत्तर दिया था सकता है कि जब-साधारण के लिए शील का ही सबसे बहन म्यान होता स्वाभाविक है क्योंकि उसका सम्बन्ध यत्न्य मात्र की सामान्य-स्थिति रहा ग है ।

अन्व मनोविचारों से यज्ञा का अन्तर भी सुकलजी के स्पष्ट किया है । किसी के प्रति यज्ञा करते समय हमारे सामने उसका सङ्घ व्यक्तित्व मात्र नहीं रहता उसके कर्म विशेष रूप से यज्ञा के उपादान बन जाते हैं । इसके विपरीत प्रेम का साध्य केवल प्रिय का शरीर या व्यक्तित्व ही सकता है यद्यपि हम उसके ऐसे गुणों से उच्छ सकते हैं जिसमें इसका अथवा कोई हाव नहीं होता है । इसके प्रतिरिक्त प्रेम का कारण प्रायः अनिदिष्ट तथा अज्ञात रहता है पर यज्ञा का कारण निरिष्ट और ज्ञात होता है । सुकलजी के शब्दों में "यज्ञा में दृष्टि पहले कर्मों पर से होती हुई अज्ञेय तक पहुँचती है और प्रीति में प्रिय पर से होती हुई उसके कर्मों धारि पर जाती है । एक में व्यक्ति के कर्मों द्वारा मनाहरता प्राप्त होती है दूसरी में कर्मों को व्यक्ति द्वारा । एक में कर्म प्रधान है दूसरी में व्यक्ति ।"

प्रेम एक प्रकार से वैकल्पिक भाव है । इसमें अन्तर्ग है विस्तार नहीं । प्रती प्रिय के जीवन को अपने जीवन से मिलाकर एक कर लेना चाहता है वह उसके हृदय पर एकमात्र अथवा अधिकार कर लेना चाहता है । इस प्रकार प्रेम का विस्तार-स्वतः सर्वथा अभाव है । इसके विपरीत यज्ञा एक सामाजिक भाव है, उसका व्यापार-स्वतः अत्यन्त विस्तृत है । यज्ञावान् अपनी यज्ञा के बदले में अज्ञेय से अपने लिए कुछ नहीं चाहता है क्योंकि यज्ञा के कर्मों के कारण से होती है जिसका मुक्त प्रभाव अकेले यज्ञावान् पर नहीं अपितु उसके मानव-समाज पर पड़ सकता है, यत्न यज्ञावान् को यह यज्ञा एक प्रकार से मानव-समाज की ही प्रतिनिधि समझी जा सकती है । यज्ञा की इस सामाजिकता का अन्तर्ग सुकलजी के इस प्रकार किया है—“यज्ञा की सामाजिक विशेषता एक इर्मी बात से समझ लीजिए कि प्रिय पर हम यज्ञा अपने हैं उस पर चाहते हैं कि और लोग भी यज्ञा करें पर प्रिय पर इच्छा प्रेम होता है उनमें और इस-विधि चाहती प्रेम रूप—

इसकी हमें परवा क्या इच्छा ही नहीं होती क्योंकि हम प्रिय पर मानवध एक प्रकार का सामान्य अधिकार या इजाजत चाहते हैं। भद्रालु अपने पाप में संसार को भी सम्मिलित करता चाहता है पर प्रेमी नहीं।”

भद्रा एक प्रकार से धानन्दपुत्र कृतज्ञता ही है। कृतज्ञता धीरे भद्रा में एक सूक्ष्म अन्तर होता है। अपने साथ या किसी विशेष मनुष्य के साथ किए जाने वाले व्यवहार के लिए जो कृतज्ञता होगी वह भद्रा नहीं हो सकती। भद्रा की दृष्टि सामान्य की ओर रहती है विशेष की ओर नहीं। यही सामान्य दृष्टि भद्रा को कृतज्ञता से मिल कर देती है। भद्रा धीरे क्या ये भी अन्तर है। भद्रा सामर्थ्य के प्रति होती है धीरे दया क्षामार्थ्य के प्रति।

भद्रा की उपयोक्ति पर भी बुद्धिजी की दृष्टि पड़ी है। सर्वप्रथम भद्रा द्वारा मानव के कर्मों का सूत्यांकन किया जा सकता है। जिन कर्मों के प्रति मानव-मन में धानन्दपूर्ण भाव-भाव की सृष्टि हो जाती। मानव उन कर्मों की सदा धनित्वाया करता रहेगा। वे उनके लिए महत्त्वपूर्ण ही जाएंगे। इस प्रकार भद्रा एक प्रकार से शुभाशुभ कर्मों के निर्धारण में एक स्वतः सिद्ध प्रमाण ठहर जाती है। बुद्धिजी के सन्धो में भद्रा कर्म की पहली सीढ़ी है। इसके द्वारा ही मानव यह धानन्दपूर्ण स्विकार कर लेता है कि कर्म के समुक्त समुक्त दुःखान्त कर्म के हैं।

भद्रा मानव जीवन की कठिनाइयों को ठरत बना देती है, उसकी उपायों को सुलभा देती है। दुमरों की भद्रा संसार में एक अत्यन्त वाञ्छनीय वस्तु है। इसके द्वारा मानव समाज का समय सामन होता है। यद्यपि अपने उदात्त चरित्र से अपने चारों ओर मयत-मृष्टि करना चाहता है। भद्रालु अपनी भद्रा द्वारा उसे इन मंगल विधान की सूचना देता है। भद्रालु की इन सूचना से धर्म को अपनी सामर्थ्य का बोध हो जाता है धीरे उसमें उन मंगलचरित्रों के करने में उन्माहकी बुद्धि हाथी रहती है धर्म-मानव-समाज में मंगलची बढ़ती रहती है। भद्रा की उपयोक्ति उपाय-पथ में देरी जा सकती है। धर्म यदि अपने सदाचरित्रों से मानव-मृत वा

विधाम करता है तो भद्राशु भी अपनी यज्ञ से उसके तथा अपने समाज के मुख का विधान कर देता है। यही कारण है कि दुष्कर्मकी यज्ञ-धारण को मानव का वरम कर्तव्य स्वीकार करते हैं। उनकी धारणा है कि "तथा चारी के प्रति यदि हम यज्ञ नहीं रखते तो समाज के प्रति अपने कर्तव्य का पामन नहीं करते। यदि किसी को दुष्टता के कर्मचार के लिए मारी स्वार्थ त्याग करते देख हमारे मुँह से 'वन्य वन्य भी न निकलता तो हम समाज के किसी काम के न ठहरे, समाज को हमने कोई धारणा नहीं हम समाज में रहने योग्य नहीं।

अन्तिम—दुष्कर्मकी अन्तिम को भी मानव की आत्मिका वृत्ति स्वीकार करते हैं अन्तिम अन्तिम भी मानव-हृदय का भाव या विकार है। उसे भी मूलवर्ष से ही परिगणित किया जा सकता है। उनकी धारणा के अनुसार हम सब विधेय की उत्पत्ति यज्ञ और प्रेम के योग से होती है। इसका लक्षण उन सब धर्मधरा में होता है जो यज्ञ और प्रेम में रहते हैं। उनकी अन्तिम की परिभाषा तथा व्याख्या इसी बात का समर्थन करती है। वे कहते हैं—

"यज्ञ और प्रेम के योग का नाम अन्तिम है। जब पूज्यभाव की वृत्ति के साथ यज्ञ-भावना के सामीप्य नाम की प्रवृत्ति हो उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो तब हृदय में अन्तिम का प्रादुर्भाव सम्भवा चाहिए। जब अन्तिम के दर्शन अथवा कीर्तन व्याप्त धारि में प्राप्त का अनुभव होने लगे—जब उनमें सम्बन्ध रखने वाले यज्ञ के विषयों के अतिरिक्त बातों की ओर भी मन आकर्षित होत तब तब अन्तिम-रम का संसार सम्भवा चाहिए।

किन्ती के प्रति पुण्यभावना की वृत्ति में उसके सामीप्य-नाम की प्रवृत्ति में उनकी सत्ता के विविध रूपों के साक्षात्कार की सामग्री से उसके सम्पूर्ण अपनी धीमता-नपुन्य की स्वीकृति में उसके प्रति अपने प्रीत्य तबस्व को समर्पित करने की वासना में उससे कुछ धारणा की दृष्टा में मानव-हृदय में एक विशिष्ट मनोविचार की अनुवृत्ति होने लक्ष्मी है उसे

ही भक्ति कहा जाता है। य सब तथ्य ही भक्ति के विनायक घन माने जा सकते हैं। भक्ति के लोभ तथा विषय के सम्बन्ध में पुष्पमी कहते हैं कि— भक्ति हृदय से ही की जाती है। वहीं भद्रा प्रेम का संयोग होता है। बुद्धि से भक्ति करना नाक से जाना और कान से सूचना है। सामान्यतः भक्ति का विषय भी मानव ही हो सकता है। मानव हितकारी उदात्त गुणा तथा कम तन्त्रों को किसी घपने जैसे घरीरधारी अन्य मानव में देखकर मानव स्वयं उसके प्रति सर्वप्रथम भद्रा करने लगता है और धीरे-धीरे उसका हृदय में घपने धरोत्र के प्रति प्रेम भावना उत्पन्न होने लगती है। इस प्रकार कहीं मानव उसकी भक्ति का भी भाजन बन जाता है। जब य कंबल पठान् या कबल प्रेमी ही नहीं रहता वह मन बन जाता है। पठा और प्रम दोनों मिलकर उसे नया रूप प्रदान कर देते हैं। पठा की प्रेरणा में वह उसकी महत्ता को स्वीकार कर लेता है, वह उसके प्रति पूज्य बुद्धि धारण कर लेता है, वह उसकी स्तुति-प्रशंसा करके ध्यात्म-लुष्टि की अनुभूति करता है परन्तु प्रम उससे अनिच्छता प्राप्त करने की जगमें धानुरता उत्पन्न कर देता है। जब वह उसके महत्त्व की घोर घघमर होता है वह उसके प्रति घयनी दीनता की चर्चा करता है। उसके जीवन में इस दीनता-स्वीष्टि य इतनी इतना उत्पन्न हो जाती है कि उसका घपना भाषा ही विलीन हो जाता है। वह घपनी इत तस्मोनता के प्रभाव से घपना जीवन-सर्वस्व ही उसे सौंपने को उद्यत हो जाता है। इसी मोक में वह जगमें साधना-विनय भी करता है। इस प्रकार वह महापुरुष उसकी भक्ति का ध्यात्म बन जाता है। मगवान् भी भक्ति का विषय प्रसिद्ध है। धृष्णमी ने मगवान् भक्ति की चर्चा की है परन्तु उम्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि मगवान् भी भक्ति उसी अवस्था में ही करनी है जब कि हम उसे ऐसा स्वरूप दे सके जा पठा और प्रेम का विषय बन सके। मगवान् का ऐसा स्वरूप जो इन दोनों भाषों का ध्यात्म बन नहीं बन सकता भक्ति का भी ध्यात्म बन नहीं बन सकता है। 'सुतनी की भक्ति पद्धति' दीर्घक लेख की ये पक्षिम। प्रभाव स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है—

‘इसी जगत् के बीच भासित होता स्वरूप ही प्रेम या भक्ति का धाम बन हो सकता है। इस जगत् से सर्वथा असम्बन्ध किसी धम्मियत सत्ता से प्रेम करना मनोविज्ञान के अनुसार सर्वथा असम्भव है। भक्ति केवल ज्ञाता या इष्ट के रूप में ही ईश्वर की भावना लेकर समुप्ट नहीं हो सकती। वह ज्ञातृपक्ष और ज्ञयपक्ष दोनों को लेकर बनती है।’

शास्त्रिकस्य मूढ म भक्ति का लक्षण—‘छा परानुरक्तिरीश्वरे’ धर्मार्थ ईश्वर में परानुरक्ति ही भक्ति है। यदि इस लक्षण को स्वीकार किया जाए तो हम ईश्वर को ऐसा स्वरूप प्रदान करना होगा जो मानव-मन का विषय बन सके। मुक्तजी ने भगवद्भक्ति का प्रतिपादन करते हुए इसी तथ्य को अपने समझ रखा है। वे कहते हैं कि जिन गुणों को किसी मनुष्य में देखकर हम उसके प्रति ध्याना करने लगते हैं उन्हीं गुणों की ईश्वर में प्रतिष्ठा करके हम अपने हृदय में भक्ति का सञ्चार कर सकते हैं। यही कारण है कि मानव ने महागुणों में यद्वाधिषायक गुणों की प्रतिधयता देखकर उन्हें ही मनवान् का धरतार धर्मान् भयवान् का प्रतिरूप स्वीकार कर लिया है और उन्हीं के प्रति धयनी भक्ति भावना का प्रकाशन किया है। उदाहरण स्वरूप राम हृष्य धारि धरतारों को लिया जा सकता है। इन धरतारों में परमात्मा की विशेष कलापो के दर्शन करके मनुज हृदय उनके मुक्तधयन कीन में धर्मन बन्धन मेहन में धानम्बपूष हृदय से प्रवृत्त होता है। कभी उनके प्रति वास्वधाव कभी उच्च्य भाव और कभी धात्म निवेदन प्रकट करने लगता है। भगवद्भक्ति का अस्तित्व इन्हीं रूप में सम्भव हो सकता है। मुक्तजी की दृष्टि में ज्ञान-कर्म समन्वित भक्ति ही प्रसस्त भक्ति है। उनका यह लिङ्गाल्प वाक्य है कि ज्ञान-दमार के भीतर ही भक्ति होती है। वहाँ तक हम ईश्वर को जान पाते हैं वही तक उसकी भक्ति कर सकते हैं। कोरे ज्ञान से मानव भक्त नहीं बहना सकता है। यदि कोई भयवान् के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके जगत् तटस्थ रहता है तो वह भक्त नहीं हो सकता है। उसने ज्ञान की मार्भरुता भक्ति में ही है। यदि वह धयने जाने हुए स्वरूप में हृदय में कीन होने लगता है उस स्वरूप को मानव

बासी एक-एक बात पर मुग्ध होता चमता है तो उसका ज्ञान हृदय का योग पाकर रसात्मक अनुभूति का रूप धारण कर लेता है। ज्ञान की यही रसात्मक अनुभूति भक्ति कहना सफ़टी है। उनका यह अटल विश्वास है कि भक्ति का प्रारम्भ ही शान्तपूर्वक होता है। जिस भक्ति में ज्ञान या चैतन्य का अभाव हो और उसके स्थान पर प्रेम का उन्माद मात्र रह जाए वह रूपिष्ठ एक विकलाय भक्ति है।

ज्ञान के समान कम भी प्रशस्त भक्ति का अर्थ है। कर्म से धुलकड़ी का अधिमाय धर्मशून्य बाह्य विधि विधानों की कठिन पर्यस्ताम तिलक-माता धारण मात्र जाय घाति कर्मों से नहीं है। उनकी दृष्टि में ध्यान-कल्याण और साधक कल्याण-विधायक कर्म ही सच्चे कर्म हैं। इन सच्चे कर्मों से मूल्य भक्ति रूपित हो जाती है। अपनी इस धारणा का समर्थन वे योगी कि इन धर्मों से करते हैं कि ज्ञानसे जलो भक्ति करते जलो और कम करते जलो। उन्हें भक्ति की स्वाभाविक सीधी एवं सरल प्रक्रिया ही मांग्य है। इसीलिए वे कहते हैं—

“कल्पना वा भावना जिसमें विज्ञान का भीतरी साक्षात्कार होता है और भाव या गमात्मिकावृत्ति जिसमें धामन्दाभूति होती है दोनों मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं। अब इन्हीं दो स्वाभाविक वृत्तियों के सहारे भक्ति रक्त की निष्पत्ति हो जाती है। इसके सीप-सारे विज्ञान में न इसा विमता नाशियाँ हैं, न सहकारक न सहकार्य न धासन और न प्रासाधाम।

यही कारण है कि उन्होंने अन्तस्माधना मुह्य-रहस्य भावना बन्-रज और उचचारों धर्मिक विधिओं के प्रति अपनी अनास्था प्रकट की है। बन् धानी मित्रों और नाच भक्तियों के द्वारा अक्षम्य बाह्यी विधि विधान कीर्तित धारि की निष्ठा को वे उचित समझते हैं परन्तु लोक कल्याण विधायक कर्मों की अक्षम्यता तथा अन्तस्माधना का उपदेश उन्हें प्रिय नहीं। भक्ति सम्बन्धी लेखों में सर्वत्र उनकी भक्ति के स्वरूप की निष्ठा ही वृत्तमयी ने की है। उनकी दृष्टि में इन सबों में हृदयगत मूल्य सामान्य अन्तस्माधना-धर्म विकासने मल का निपा वा। इस अभाव को निर्बन्-

“सी जगत् के बीच मासित होता स्वल्प ही प्रेम या भक्ति का धाम-
 बन हो सकता है। इस जगत् से सर्वथा असम्बद्ध किसी धम्मस्त सत्ता से प्रेम
 करना मनोबिज्ञान के अनुसार सर्वथा असम्भव है। भक्ति केवल ज्ञाता या
 इष्टा के रूप में ही ईश्वर की भावना लेकर सम्पुष्ट नहीं हो सकती। वह
 ज्ञातृणा और ज्ञयपदा दोनों को लेकर बनती है।”

धार्मिकत्व मूल में भक्ति का मध्यम—‘सा परानुष्क्तिरीश्वरे’ धर्मान्
 ईश्वर में परानुष्क्ति ही भक्ति है। यदि इस मध्यम का स्वीकार किया जाए
 तो हमें ईश्वर को ऐसा स्वल्प प्रदान करना होगा जो मानव-मन का विषय
 बन सके। बुद्धिजी ने मगधदर्शन का प्रतिपादन करते हुए इसी तथ्य को
 धारण नमक रखा है। वे कहते हैं कि जिन मूलों को किसी मनुष्य में देखकर
 हम उनके प्रति सद्भाव करने लगते हैं उन्हीं मूलों की ईश्वर में प्रतिष्ठा करने
 हम अपने हृदय में भक्ति का संचार कर सकते हैं। यही कारण है कि मानव
 ने महापुरुषों में भद्राधिपामक मूलों की प्रतिष्ठाता देखकर उन्हें ही भग
 वान् का धर्तार धर्मात् भगवान् का प्रतिरूप स्वीकार कर लिया है और
 उन्हीं के प्रति अपनी भक्ति भावना का प्रकाशन किया है। तथाहरम
 स्वल्प राम कृष्ण धार्मिक धर्तारों को लिया था सकता है। इन धर्तारों में
 परमात्मा की विषय कलाओं के वर्सन करके मूल हृदय उनके बुद्धयर्थ
 कीर्तन धर्तन बन्धन मेवम में धामन्प्रभ हृदय से प्रवृत्त होता है। कभी
 उनके प्रति दास्यभाव कभी मध्य भाव और कभी भ्रातृ निवेदन प्रकट करने
 लगता है। मगधदर्शन का धार्मिक इसी रूप में सम्भव हो सकता है।

धुवतजी की दृष्टि में ज्ञान-रूप समन्वित भक्ति ही प्रसन्न भक्ति है।
 उनका यह सिद्धांत वाक्य है कि ज्ञान प्रसार के भीतर ही भक्ति होती है।
 जहाँ तक हम ईश्वर को जान पाते हैं वही तक उसकी भक्ति कर सकते हैं।
 कोरे ज्ञान ने मानव भक्त नहीं कहाया सकता है। यदि कोई भगवान् के
 स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके उसमें तटस्थ रहता है तो वह भक्त नहीं हो
 सकता है। उनके ज्ञान की पार्थक्यता भक्ति में ही है। यदि वह अपने ज्ञान
 हुए स्वल्प में हृदय में मीन होन लगता है उस स्वल्प को स्पष्ट करने

बानी एक-एक बात पर मुग्ध होता चलता है तो उसका ज्ञान हृदय का बोग पाकर रसात्मक धनुषुति का रूप धारण कर लेता है। ज्ञान की यही रसात्मक धनुषुति मक्ति कहमा सजती है। उनका यह घटन विश्वास है कि मक्ति का प्रारम्भ ही ज्ञानपूर्वक होता है। जिस मक्ति में ज्ञान वा र्चतम्ब का प्रभाव हो और उसके स्वान पर प्रय का उम्माद मात्र रह जाए वह दूषित एवं विकलांग मक्ति है।

ज्ञान के समान कर्म भी प्रघस्य मक्ति का भग है। कर्म से बुद्धिजी का प्रमिश्राण प्रबन्धुय बाह्य विवि विधानों सीमाटन परबस्ताम निमक-मात्ता चारक मंत्र वाप धारि कर्मों में नहीं है। उनकी वृष्टि में धात्म-कस्याप और मोक कस्याग-विधायक कर्म ही मन्त्र कर्म हैं। इन मन्त्रे कर्मों से मूल्य मक्ति दूषित हो जायगी। अपनी इन चारका का समर्पन के नीला के इन उपरोध में करने हैं कि ज्ञानते असो मक्ति करते असो और कर्म करते असो। उन्हें मक्ति की स्वाभाविक सीधी एवं सरल प्रकिया ही मान्य है। इसीनिण के कहते हैं—

‘कल्पता मा सावता जिसमे विज्ञान का भीतरी साखाल्कार होना है और भाव या रागात्मिकावृति जिसमे धातम्भानुभूति होती है बागों मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं। हम इन्हीं को स्वाभाविक वृत्तियों के महारे मक्ति रस की निष्पत्ति हो जाती है। इसके सीधे-सादे विधान में न इला पिगता नाकिनी है, न सहस्यार चक्र न इन्द्राग्ध न धामन और न प्राणाधाम।

यही कारण है कि उन्हेमि धन्तस्मापना मुह्य रहस्य धारना मन्-मन् और उपचारों धर्मीष्टिक मिठियों के प्रति अपनी धनास्था प्रकट की है। कस बानी मिठों और नाम पधियों के द्वारा प्रबन्धुय बाहरी विवि विधान सीमाटन धारि की निम्बा को के उचित समझने हैं परन्तु मोक कस्याच विधायक कर्मों की प्रकटेजता तथा धन्तस्मापना का उपरोध उन्हे प्रिय नहीं। मक्ति सम्बन्धी लेनों में मन्त्र उनकी मक्ति के स्वकप की निम्बा ही सुवन्त्री ने की है। उनकी वृष्टि में इन पर्वों ने हृदयपरत मूल्य सामान्य धन्तस्मापना-धार्म निकालने मन्त्र का किया था। इन प्रभाव को किन्तु क-

पथ के कबोर भावि सग्या में अनुभव लिया फलत उन्होंने प्रचलित अन्त-स्थावका भक्ति में रामारिका भक्ति और ज्ञान का योग किया परन्तु उन्हे कर्म की आवश्यकता से भक्ति का विमल सर्वांगपूर्ण स्वरूप निर्मूलक-वच में भी प्रकट नहीं हो सका। निर्मूलक भक्ति में निराकार ब्रह्म को भक्ति का विषय बताया गया था। सुकनयी की बारबा के अनुसार सबुल-साकार ब्रह्म ही भक्ति-प्रेम का विषय बन सकता है अतएव कबोर भादि की भक्ति भी उनकी दृष्टि में प्रयत्न स्वरूपा नहीं हुई। सबुल भक्ति सम्प्रदाया में राम भक्ति और कृष्ण भक्ति मिलती है। कृष्ण भक्ति में भक्ति के दो प्रधान अंगों में से केवल एक प्रेम को ग्रहण किया गया अन्ध को छोड़ दिया गया अर्थात् मोक्षरत्नक एवं मोक्ष कस्यामकारी कर्मों की अपेक्षा कम ही गई। अतएव सुकनयी की भेतना भक्ति के इत स्वरूप की भी प्रशंसा न कर सकी। भक्ति का सर्वांगपूर्ण एवं निर्मल स्वरूप राम भक्ति में ही उन्हें दृष्टियोग्य हुआ है। उनकी भक्ति सम्बन्धी बारबा का उदाहरण तुमसी की राम भक्ति ही है। 'हिन्दी-साहित्य के इतिहास' में उनकी ये पंक्तियों प्रमाण स्वरूप बस्तुतः की जा सकती हैं—

“कबोर का ज्ञानपरा तो रहस्य और गुह्य की भावना से विह्वल मिलेया पर मुक्तिमें से जो पंथ उन्होंने लिखा वह तत्त्व मुक्तिमें के यहाँ चाहे काम कामता प्रस्तुत हुआ हो पर निर्मूलक पथ में वह अधिष्ठत रहा। वह निस्तम्बेह प्रमाणा का बात है। वैष्णवों की कृष्ण भक्ति धारणा में केवल प्रेम अथवा भक्ति ही कम वह हुआ कि उसने अस्मीत विभाषिता की प्रवृत्ति बनाई। राम भक्ति धारणा में भक्ति सर्वांगपूर्ण रही वह इसके विह्वल न होये पाई। तुमसी की भक्ति पद्धति में कर्म भर्म और ज्ञान का पूरा सार्वजन्य और समन्वय रहा है।

सुकनयी ने भक्ति को एक सावाधिक भाव स्वीकार किया है और इसे मानव-जीवन की विमल अधिष्ठाति में परोक्ष रूप से मानव बर्चित किया है। वे 'अन्ध भक्ति शीर्षक निबन्ध में लिखते हैं—

“भक्ति के सावाधिक महत्त्व का इसकी वास्तविकता की धरि

को स्वीकार करने में किसी को धागा-पीछा नहीं हो सकता। सामाजिक महत्त्व के लिए धारण्यक है कि या तो धारण्यक करो या धारण्यक हो। जैसे-जैसे धारण्यक-विधान के बिना धनुषों द्वारा व्यक्त पिण्डों का धारण्यक नहीं हो सकता वैसे ही मानव-जीवन की विषय धारण्यक भी नहीं हो सकती।" यही धारण्यक-विधान भक्ति द्वारा सम्भव हो सकता है। यही कारण है कि सत्कार के बड़े-बड़े महात्मा अपने धारण्यक द्वारा दूसरों को धारण्यक करके उनमें अपने प्रति भक्ति भावना उत्पन्न करके मानव समाज के कस्माक साधन में समर्थ हुए हैं। जब किसी समाज में ऐसे भक्ति भाजन महापुरुष का व्यवहार होता है तब जनसाधारण के लिए उस महापुरुष का धारण्यक पाकर महत्त्व प्राप्ति मुमकिन हो जाती है। भक्ति भावना बुद्धक उच्छ-वय को भुक्त बना देती है। भक्त स्वयं ही धारण्यक हो उस उच्छ-वय का अनुसरण करने लगता है। भक्ति की इस उपयोगिता का बचन भुक्तजी ने इस प्रकार किया है— "भक्ति में किसी ऐसे सान्निध्य की प्रवृत्ति होती है जिसके द्वारा हमारी महत्त्व के अनुकूल गति का प्रसार और प्रतिभूत गति का संकोच होता है। इस प्रकार का सामीप्य-भाव करके हम अपने ऊपर पहरा बिछा देते हैं—अपने को ऐसे स्वच्छ धारण्यक के सामन कर देते हैं जिसमें हमारे कर्मों का प्रतिबिम्ब ठीक-ठीक दिखाई पड़ता है।"

भक्ति एक प्रकार की प्रवृत्ति-विधायिका शक्ति है। यह केवल भक्ति बल एकात्म भावना के रूप में नहीं है। व्यवहार क्षेत्र के भीतर सौम्य-मंगल की प्रस्था करने वाली है। अपने मंगल और लोक के मंगल का संयम भक्ति के भीतर दिखाई पड़ता है। इस भाव के संसार से मानव में जीवन-धारण्यक की धारण्यकता जागती है। निराशा का व्यवहार कभी उसके पक्ष में प्रतिरोध उत्पन्न नहीं करता है। हृदय की सरसता सम्पूर्ण जीवन का सरस बनाकर सौन्दर्यपूर्ण एवं धारण्यक बना देती है। अतएव यह भक्ति भाव मानव जीवन के सर्वांगपूर्ण विकास में सहायक होने के कारण परम उपार्य माना जा सकता है।

बुद्धक उच्छ-वय—बुद्धक के धारण्यक में भय करना जाय संभव

बुद्धा तथा ईश्वरी का विश्लेषण मुसलजी के निबन्धों में मिलता है। इनमें से सब का लक्षण उन्हींने इन शब्दों में दिया है—

‘किन्ती धाती हुई आपदा की भावना या बुद्ध के कारण के साक्षात्कार में जो एक प्रकार का धारैयपूर्ण व्यवहार स्वयं कारण मनीषिकार होता है उसी का मय कहते हैं।

मय के लिए सर्वप्रथम यह धारैयक है कि मानव के सम्मुख ऐसी स्थिति उपस्थित हो जिससे बुद्ध उत्पन्न होने की सम्भावना हो। बुद्ध के कारण के प्रत्यक्ष होने ही मानव में अपनी क्षमता के कारण एक प्रकार का उद्वेग उत्पन्न होता है जो कि उसे बुद्धशायक परिस्थिति की पहचान से बाहर होने की प्रेरणा देता है। यही उद्वेग बुद्धि मय कहलाती है। इस प्रकार मय के समोच्च धारयकों में बुद्धशायक परिस्थिति से उत्पन्न क्लेश सहने की क्षमता को धीरे धीरे धारैय के धारैयको को परिवर्तित किया जा सकता है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मय का धारैयक बुद्ध का कारण है। मुसलजी ने इस धारैयक के दो रूप बतलाने किये हैं—धारैयक रूप और साध्य रूप। धारैयक धारैयक या धारैयक वह है जिसका किन्ती प्रयत्न द्वारा निवारण सम्भव हो या असम्भव समझ पड़े। साध्य विषय वह है जो प्रयत्न द्वारा दूर किया जा सके। जब दो रूपों के मूल में दो विशेषताओं का उल्लेख भी उन्हींने किया है। परिस्थिति की विशेषता के कारण या मनुष्य की मनुष्य प्रकृति की विशेषता के कारण मय का धारैयक साध्य या धारैयक रूप का प्राप्ति कर लता है। कई बार मनुष्य अपनी क्षमता के ज्ञान से तथा अपनी शक्ति पर भरोसा न होने के कारण क्लेश के कारण ही धारैयकता मानव बनता है और मय बुद्धि की अकड़ में पड़ जाता है। ऐसी स्थिति में मानव भी मयवता को सुचित करने वाले शब्दों—धारैयक का प्रकल्पन तथा स्वयं—प्रकट ज्ञान मगने हैं। यदि मानव को अपनी शक्ति पर भरोसा होता है प्रकल्पन में शान्त होता है तो उक्त बुद्ध शायक परिस्थिति से बच कर मय निवृत्त के लिए वह प्रयत्नशील हो जाता है। उक्त समय वसायन धारैय

व्यापार मय क घोषक हो जाते हैं।

मय के धायय की बर्चा भी पुस्तकजी न की है। प्रत्येक मापी भीतरी धीत के कुछ तुसते ही धपने सामने मानो एक दुल-बाण्य-पूर्व संवार पैसा हुआ पाता है जिने बहु फमण कुछ धपने जान बम से धीर कुछ बाहु बल मे थोड़ा बहुत मुकमय बनाता बसता है। मसार के नामा कपो मे ज्यों-ज्यों उसका परिचय बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसकी बढक कुसगी जाती है। मानो बहु धपने जान बम हृदय बम धीर शरीर बम के परिचय मे बिन्ध में परि व्याप्त दुन्य की लामा को हटाना चाहता है। पुस्तकजी न धपने इसी जीवन दर्शन के धाधार पर मय के धकयकों का परिगणन किया है। वे कहते हैं कि बयसी धीर धसम्य जातियो मे मय अधिक होगा है। उनके देखी-देखता मय के प्रभाव मे ही कल्पित होत हैं किमी धापति या पुस्त मे बने रहने के लिए ही धधिकतर वे उसकी पूजा करते हैं। इस प्रकार मय धीर धसम्यता का गहरा सम्बन्ध पुस्तकजी स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि धतिमय धीर धयकारक का सम्मान धसम्यता के लक्षण है।

मय का हुसठ धायय धधितित मानव है। वे ऐसा धनुमक करते हैं कि धतिबिध हाने के कारण धधिकान मारतबासी भी मय के उपासक हो गए हैं। बच्चों को दुल्य परिहार का नाम या बल नहीं होगा धतएव बच्चे भी मय के धायय मान जाते हैं। इन्ही कारणों मे पशुधो म भी मय की माना 'बिक्रता मे पाई जानी है। इसका धधिप्राय यह नहीं कि सम्य एवं प्रीड़ नब म मय की माना नहीं होती। उसका कारण तथा स्वरूप धिन्ध धबस्य हो जाता है। सम्यता तथा तिष्ठा के बिकास ब बित्तार के धनुपात म मानव के मय पर्याप्त कम हो गए हैं। सम्य मानकों को धुनों का मय नहीं रखा पशुधों के मय मे भी मुक्ति धिस रखी है परन्तु मनुष्य के सिग मनुष्य का मय धयो तक बना हुआ है। सम्यता मे मनुष्य के व्यापारों को इनना जटिल बना दिया है कि उसके धुप के कारण भी धूड धीर जटिल हो गए हैं। धव बही धूड जालेस व्यापार मय के जतन बनन जा रहे हैं। गामान्यत' लोय बर्म धय की प्रगमा करते हैं परन्तु पुस्तकजी की दृष्टि में धयमान एक धूर्ण ही है।

वह प्रसन्नगीब नहीं है। उसकी वारसा है कि धर्म से डरने वाले जी प्रसन्नगीब नहीं है। प्रसन्नगीब तो वे हैं जो धर्म की घोर प्राकृषित होते हैं, वे निर्भयता को ही उत्तम समझते हैं परन्तु वह निर्भयता मलबाम्य ही होती है। निर्भयता—सम्पादन के लिए वे जो बातें परमावश्यक मानते हैं—उत्कृष्ट चीस और पुण्यार्थ सम्पन्न शक्ति। इसी दोनों गुणों के कारण भयजनक परिस्थितियों का नाश हो सकता है। इनमें से चीस के रूने पर दूसरों को हमसे कितनी प्रकार का भय वा कष्ट न होना और शक्ति के होने पर दूसरों को हम कष्ट या भय पहुँचाने का साहस न हो सकेगा। ऐसी स्थिति में ही निर्भयता सम्पादित की जा सकती है।

धुबलजी ने जब का कोष से तथा उत्साह से प्रसन्नगीब को भी स्पष्ट किया है। नाश दुःख के कारण के स्वरूप-बोध के बिना नहीं होना पर सब के लिए कारण का निश्चित होना जरूरी नहीं। इतना जर मानस होना चाहिए कि दुःख या हानि पहुँचिनी। कोष दुःख के कारण पर प्रभाव डालने के लिए धानुस करता है और भय उत्पत्ती बहोत से बाहर होने के लिए। उत्साह के समान रूप के सामने भी कठिन स्थिति रहनी है। उत्साह के समान भय में भी प्रबल की भाषा रहनी है परन्तु उत्साह में कठिन स्थिति के निरचय से साहस के योग से एक भावमय विभिन्न वेग उत्पन्न होता है। परन्तु भय में कठिन स्थिति के निरचय से बिभयता के योग से एक दुःखविधित वेग उत्पन्न होता है। उत्साह में प्रबल का सब कठिन स्थिति को दूर करना होता है परन्तु भय में प्रबल का लक्ष्य उस स्थिति में स्वयं दूर होना होता है। इस प्रकार जब मानव जीवन में बाधक स्वरूप डहरता है उसे धर्म बच से विचलित करता है। इनकी उपयोगिता उसी रूप में है कि मानव भय-भंजार द्वारा दुर्बलों घातनापिणों के प्रबल को राक्षस से सफल हो सकता है। समाज की व्यवस्था में राज्य की सुव्यवस्था में भय से पर्याप्त उपयोग लिया जा सकता है। दण्ड या भय और अनुग्रह का जोन दिखाते हुए राज्य धामन तथा नरक या भय और स्वर्ग का जोन दिखाते हुए धर्म धामन चलते जा रहे हैं।

भय के प्रबंध से धुबलजी ने भय के हलके रूप धारणका का भी उल्लेख

किया है। बुद्ध या आपति का पूर्ण निरन्धय न रहने पर उनकी सम्मानना मात्र के अनुमान में धारण्य दूष्य भय होगा है उस धार्मिका कहा जाता है। बुद्धान्तरक भावों में धारणका की वही स्थिति समझी जाती है जो मुन्नात्मक भावों में धारणा की। धार्मिका भय का अनुर्व रूप है।

करुणा — बुद्ध धर्म में करुणा को परिष्कृत किया जाता है। दूसरों के बुद्ध के परिष्कार में मानव हृदय में जो बुद्ध का वेग उत्पन्न होता है उसे करुणा कहा जाता है। करुणा का विषय बुद्धों का बुद्ध है धरणा दुःख नहीं। इस बुद्ध का कारण दूसरा व्यक्ति धरणा तथा ज्ञान प्रिय थी हो सकता है। करुणा का वेग व्यक्ति मेह में मिल-मिल मात्राधा में उत्पन्न होता है। धरणा व्यक्ति क बुद्ध को देखकर भी करुणा उत्पन्न होती है परन्तु ज्ञान व्यक्ति के बुद्ध में जो करुणा उत्पन्न होगी उसका वेग मात्रा में अपेक्षाहीन प्रतिक्रिया होगी। इसी प्रकार यदि कोई बुद्धी व्यक्ति धरणा प्रिय है तो उसके प्रति जो करुणा होगी वह मन में मात्र-धरणा व्यक्ति की अपेक्षा अधिक व्यापकता उत्पन्न करेगी। धरणा यह स्पष्ट है कि करुणा की तीव्रता साधन होती है। प्रिय में विमुक्त होने की स्थिति में जो बुद्ध होता है उसमें करुणा कभी करुणा का भी कुछ धरणा बिना रहता है। इस स्थिति में करुणा का विषय प्रिय का बुद्ध न होकर प्रिय के मुक्त का निरन्धय है। जो करुणा साधारण-धरणाकारण ज्ञान-धरणा तथा प्रियजनों के वास्तविक बुद्ध के परिष्कार में होती है वही करुणा मानव हृदय में अपने प्रियजनों के मुक्त के प्रति रन्धय मात्र में होती है।

करुणा की प्रकृति क्रोध में विपरीत रूप में होती है। जोभी मानव क्रोध धरणा की हानि की चेष्टा करता है परन्तु करुणापुत्र मानव करुणा-धरणा की मनाई की चेष्टा करता है इसमें स्पष्ट है कि क्रोध की प्रकृति हानि की धरणा, करुणा की प्रकृति मनाई की धरणा रहती है। इस प्रकार मनाई की उत्तमता मुक्त धरणा दुःख दोनों वर्ग के मनोविकारों से हो जाती है। मुक्त के धर्म में ऐसा कोई मनोविकार नहीं जो अपने विषय की हानि की चेष्टा करे, परन्तु बुद्ध की धरणा में करुणा ऐसा मात्र है जो अपने पाप की मनाई की

उत्तेजना करता है।

कर्म का अर्थ ही काम है अर्थात् कर्म का के बदल में कर्म का उत्पन्न नहीं होती परन्तु अज्ञान या प्रीति उत्पन्न होती है। कर्म का ही उपभोगिता को देखकर धुक्लजी ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है। उनका दृष्टि में मनुष्य की प्रकृति में शील और आत्मीयता की संस्थापिका कर्म ही है। कर्म ऐसे कर्मों की प्रकृति उत्पन्न करती है जिनसे दूसरों के दुःख की निवृत्ति ही मूल का साधन होता है। इसी कारण वे इसे एक सात्त्विक भाव मानते हैं। इसी से शील नामक सद्बुद्धि की उत्पत्ति होती है। दूसरों के सम्पाद्य दुःख का ध्यान या अनुमान करते मानव ऐसी बातों या प्राचरकों से बचने का प्रयत्न करता है जिनसे दूसरों को दुःख पहुँच सकता है। बड़ी प्रयत्न शील बुद्धि का परिणामक है। लोक रक्षा के लिए इस बुद्धि की उपभोगिता अनिवार्य है। मनुष्य के अन्तःकरण में सात्त्विक की ज्योति बनाने वाली यही कर्म ही है। सांसारिक जीवन की स्थिति और दृष्टि के लिए कर्म का प्रसार आवश्यक है, क्योंकि कर्मयोग में परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देने वाली किसी-न-किसी रूप में कर्म ही विचार्य होती है। धुक्लजी की आचार्य समाज सात्त्विकों की भावना के अनुसार परस्पर साहाय्य के ध्यान को बुद्धिकृत नहीं मानते हैं। मानव यदि दूसरों के दुःख की निवृत्ति के लिए उनकी सहायता करता है तो वह विवेचना करके नहीं करता कि हमने उसका अपना कल्याण होगा। जिससे वह दूसरों की सहायता करने में आत्मरक्षा एवं आत्मकल्याण की सम्भावना निश्चित रूप से विद्यमान रहती है। फिर भी यह निश्चय है कि सत्कार में एक-दूसरे की सहायता बुद्धि की प्रेरणा से नहीं अपितु मानव-मन की कर्म नामक बुद्धि की प्रेरणा से ही की जाती है। यही कारण है कि कर्म का सदा असहाय असमर्थ तथा बुद्धि लोगों के प्रति ही अधिकता में की जाती है। बुद्धि व्यक्ति विद्यता ही असहाय और असमर्थ होना उसकी ही अधिक उनके प्रति हमारी कर्म होती। धुक्लजी की आचार्य के अनुसार परस्पर साहाय्य के ध्यान उद्देश्य के आरंभ करने का नाम मनुष्य का श्रेय-मा अन्तःकरण नहीं विद्यात्मा है।

विशेषतया अपने परिचितों के छोड़े स्नेह या धीक पर जो बेग रहित हुआ होता है उसे 'सहानुभूति' कहते हैं। शिष्टाचार के रूप में भी इस भाव का प्रयोग किया जा सकता है अथवा प्रायः इस शब्द से हृदय का कोई सम्बन्ध भाव नहीं समझा जाता है। सुकलजी इसे सध-शिष्टता के रूप में बयित करते हैं और यह कहते हैं कि यह मनुष्य के व्यवहार क्षेत्र से सम्बन्धित है।

श्रेय—मनोविकारों में श्रेय का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रेय के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सुकलजी कहते हैं— 'श्रेय दुःख के क्लेशकारण के साक्षात्कार या अनुमान से उत्पन्न होता है।' दुःख के कारण की स्पष्ट जानकारी के बिना श्रेय उत्पन्न नहीं हो सकता है। श्रेय का वेग बड़ा प्रबल होता है अथवा कमी-कमी मनुष्य दुःख देने वाले की इच्छा-अनिच्छा का भी विचार नहीं करता और श्रेय प्रकट होने लगता है। श्रेय का सामान्यतः पीड़ा होता है। श्रेय की उप-व्यक्तियों का मध्य सर्वप्रथम पीड़ा पहुँचाने वाले में श्रेय का संचार करता होता है। हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति श्रेय संचार के प्रभाव में ही प्रकट होती है। श्रेय में एक अनुपात रहता है। श्रेय करने वाला दुःख देने वाले की ओर तो देखता है परन्तु अपनी ओर नहीं। इसीलिए कमी-कमी यह श्रेय करने वाले के लिए बड़ा घनर्षकारी सिद्ध होगा है। इसका परिदृश्य यदि दुःख के कारण के निर्धारण में किसी प्रकार की गलती हो जाती है तो भी श्रेय हानिकर ही सिद्ध होता है।

श्रेय दुःख के कारण पर प्रबल प्रभाव डालने में प्रवृत्त करता है अथवा इसका प्राक्कान मानव-मन में दीर्घकाल की अवस्थावस्था में ही होने लगता है। यह प्रायः सब मनोविकारों में फर्तीला होता है अथवा यह प्रायः कई मनोविकारों के साथ रहकर मानव-जुष्टि का विषयक बन जाता है। कभी यह वया के साथ बढ़ता है कभी बुना के। श्रेय प्रव्य भाव है अर्थात् एक का श्रेय दूसरों में भी श्रेय का संचार करता है। सुकलजी ने श्रेय की उपयोगिता भी स्वीकार की है। वे कहते हैं कि सामाजिक जीवन में श्रेय की अत्यन्त उपयोगिता पड़ती है। यदि श्रेय न हो

तो समुप्य दूसरों के द्वारा पहुँचाए जाने वाले बहुत से कष्टों की चिर-निवृत्ति का उपाय ही न कर सके। इसकी अनुपमोमिता तभी स्पष्ट होती है जब कि यह अत्यन्त उच्च रूप में प्रकट होकर मानव-बुद्धि को दुष्टित कर देता है। ऐसी स्थिति में मानव उचित-अनुचित है मानव को धम्मा कर देता है। यदि कारण के यथार्थ निरूपण के उपाय का कर्तव्य-अकर्तव्य का परिस्थितियों के विवेक का धपनी सबलता मिथ्या का ध्यान ही दूर कर देता है। यदि कारण के यथार्थ निरूपण के उपाय का धपनी जड़त्व को यही भाँति समझने के परत्वात् उचित एवं धावस्थान भाषा में क्रोध का प्रदर्शन किया जाता है तो यह अत्यन्त उपयोगी मनो-विकार तिष्ठ होता है।

क्रोध के प्रचलन रूप की चर्चा भी पुस्तक में की है। वे कहते हैं कि क्रोध के प्रेरक दो प्रकार के बुद्ध हो सकते हैं—धपना दुःख और पराया दुःख। धपने दुःख के कारण जो क्रोध उत्पन्न होगा वह क्रोध का विषय एवं त्याग्य रूप होगा। इसके विपरीत जो दूसरे दुःख पर उत्पन्न होगा वह प्रशंसनीय कहलाएगा। पुस्तक में के अन्त में क्रोधोत्पन्न दुःख जितना ही प्रशंसनीय कहलाएगा। दुःखरे दुःख में क्रोध का स्वरूप सुन्दर और धपने सम्पर्क से दूर होगा उतना ही क्रोध में क्रोध का स्वरूप सुन्दर और मनोहर दिखाई देगा। दुःखरे अर्थों में निर्विषयता ही क्रोध में तीक्ष्ण की मूढि कर देती है। ऐसा ही निर्विषय क्रोध करना के धावाकापी संकट के रूप में हमारे सामने आता है। लोक-ध्यायी धावाचार तथा धमन की दूर करने के लिए जब क्रोध प्रचलन धमि के रूप में प्रकट होता है तब उसे सारिकक उच्च कहा जाता है। ऐसा क्रोध धम्मा नहीं होता उतना धामस थाप नहीं होता है। ऐसा क्रोध तो धर्म क्रोध होता है। धम्मे ऐम ही क्रोध का एक विधान होता है धम राजदण्ड दुःखरे अर्थों में राजक्रोध है। वही राज क्रोध धम्मे है जिसमें लोक क्रोध एवं धर्मक्रोध मूलतः विद्यमान हैं।

क्रोध के दुःख धम्मे रूप की मानव-मन में उत्पन्न होने हैं। वीर क्रोध का ही एक रूपान्तर है। पुस्तक में धमे क्रोध का धचार या धुरध्या कहते हैं। धम्मे पहुँचने के साथ ही दुःखकाया को पीड़ित करने की प्रेरणा करने वाला मनोविकार क्रोध और दुःख नाम बीत जाने पर प्रेरणा करने वाला

भाव बंध है। क्रोध का एक सामान्य रूप प्रतिकार कहलाता है। जब किसी एन बुद्ध पहुँचाने वाले को दृष्ट पहुँचाने का यत्न किया जाता है तबसे पुनः बुद्ध पहुँचाने की सम्भावना नहीं होती तो यह ध्यापार प्रतिकार कहलाता है। अधिकतर क्रोध इसी रूप में प्रकट होता है। प्रायः क्रोध में धारमरसा की भावना रहती है परन्तु प्रतिकार रूप में स्वरसा की भावना का प्रभाव रहता है।

‘धर्मप’ भी क्रोध का ही एक रूप है, परन्तु इसमें धर्म की बात की घसड़ाता से एक ठोम मुक्त धीर धारोगपूर्व अनुमति मन में उत्पन्न होती है। क्रोध में दुःख पहुँचाने वाले को भयभीत या पीडित करन की प्रवृत्ति रहती है परन्तु धर्मप की स्थिति में दुःख पहुँचाने वाली बात पर धीर उदारी घसड़ाता पर विरोध ध्यान रहता है।

क्रोध का एक इसका रूप ‘चिड़चिड़ाहट’ है। इसका कोई विशेष कारण नहीं होता है। यह एक प्रकार की मानसिक दुर्बलता है। गुस्सारी इसे विरोध की सामग्री के रूप में भी वर्णित करते हैं। वे कहते हैं—‘इसका स्वरूप जब धीर धमकन न होने में यह बहूतों के विरोध कासको के—

सज्जा—सज्जा भी बुद्धमूलक मनोविकार है। दूसरों के चित्त में बुरी या दुष्प्रचारणा होने के निदधय या धारणा का भाव से वृत्तियों का जो संशोध होना है उसी को धुक्करी सज्जा कहते हैं। इस प्रकार ‘सज्जा’ का कारण धमनी बुराई वृत्ति या शोध का हमारा धपना निदधय नहीं दूसरे के निदधय का निदधय या अनुमान है जो हम बिना किसी प्रकार का प्रमाण पाए धवन धपने धाधरण या परिस्थिति-विरोध पर वृत्ति रनकर ही कभी-कभी कर लिया करते हैं। ‘सज्जा’ के निग यह धाधरण नहीं कि हम धपने को शोपी समझें या दूसरा हमें शोपी या बुरा समझें। उनके लिए इतना ही धाधरण है कि हम स्वयं यह समझने लग जाते कि दूसरा हमें बुरा या शोपी समझता है।

‘सज्जा’ का अनुभव एक प्रकार के बुद्ध का अनुभव है धन इतनी

उपभोगिता बुलाई स मनुष्य को दूर रखने में देखी जा सकती है। राजसी वृत्ति नामा भोगभाव के भय से अपने-आपको कुकर्मों से बचा सकता है। मज्जाधीन मानव बुलाई को हृदय से निकाल नहीं सकता है केवल दूसरों को प्रयत्न न करनेवाले कर्म बहूँसरो की दृष्टि से दूर रखकर करना चाहता है। इस प्रकार बहूँसरो के हृदय में प्रज्ञान की प्रतिष्ठा करके स्वयं प्रयत्न में ही धामे बढ़ना चाहता है। दूसरो का भय उसे छिपाने-छिपाने की प्रेरणा तो करता है परन्तु हृदय से कुप्रवृत्ति के संस्कारों को ही दूर करने के लिए उत्तेजित नहीं करता यह कार्य मज्जा का एक अन्य रूप 'स्मानि' कर देती है। अपनी बुलाई मूर्खता तुच्छता आदि का एकान्त अनुभव करने से वृत्ति म जो धीबिष्य घाटा है वह 'स्मानि' का लक्षण है। 'स्मानि' अन्तःकरण व वृत्ति का एक प्राकृतिक विधान है। उसके उद्धार में अल्प होय अल्प प्रयत्न बुलाई इत्यादि का मोक्ष निःसंकोच कर्म कर बैठे है। इस अवस्था में बुदाय या छिपाव की प्रवृत्ति नहीं रहती। यही कारण है कि बुद्धवृत्ति को दूर करने में 'मज्जा' की अपेक्षा 'स्मानि' का अधिक महत्त्व है। सुकमजी इसी बात का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

“दूसरों का भय हमें मगा सकता है हमारी बुलाई को नहीं। दूसरों में हम भान सकते हैं पर अपने से नहीं। जब अपने की हम अच्छे न लगने तक भिन्न इसक कि हम अच्छे हो या अच्छे होने की घाटा करें घाटाघाटा से बचने का धीर कोई उपाय न रहेगा पर जिनके अन्तःकरण में अच्छे संस्कारों का बीज रहता है स्मानि ठही का होती है।”

यदि मनुष्य मज्जा के कारण किसी काम में प्रवृत्त नहीं होता तो उसे दूसरों में भिन्ना की घामचा रहती है। इस घामका वृत्ति का स्मानि के लक्षण को सम्भव नहीं रहना अन्तःकरण स्मानि की स्थिति में हम स्वयं अपने प्रति दुरी धारणा करने लगते हैं। इसी धारणा की निश्चयात्मक स्थिति में हमें बुद्धकर्म में रोझने में सहायक हो जानी है। इसीलिए सुकमजी 'स्मानि' को 'मज्जा' का प्रसरण रूप एक मानव जीवन के लिए उन उपायी स्वीकार करते हैं। वे मानसिक वृत्ति वाले उत्तम कोटि के मनुष्यों में ही इसकी

स्थिति मानते हैं।

सज्जा का एक इसका रूप 'संकोच' भी होता है जो किसी काम को करने से पहले ही होता है। कर्म पूरा हो जाना के उपरान्त इस भाव की स्थिति नहीं मानी जाती तब उसे 'सज्जा' ही कहा जाता है। 'संकोच' इस बात के ध्यान या धारणा से होता है कि जो कुछ हम करने जा रहे हैं वह किसी को अप्रिय या बैरुंगा तो न मयेया उससे हमारी कुसीसता या शृष्टता तो न प्रकट होयी। मानव क्रियाओं का प्रतिबन्धन होने के कारण 'संकोच' धीम का एक प्रधान धर्म सवाचार का एक सहज साधक और सिप्याचार का एकमात्र आधार माना जा सकता है। शुभमजी कहते हैं—

“जिसमें धीम संकोच नहीं वह पूरा मनुष्य नहीं। बाहरी प्रतिबन्धों से हमारा पूरा धासन नहीं हो सकता—उन सब बातों की रकाबट नहीं हो सकती जिन्हें हमें न करना चाहिए। प्रतिबन्ध हमारे धर्म-करण में हाना चाहिए।” बुद्धि द्वारा प्रकृति अवरुद्धि रोकी जानी है पर सज्जा संकोच धारि की अवस्था में प्राप्त होकर प्रकृतिक मन धापसे धाप रकता है। बिप्टाएँ धापसे धाप धिपिस पड़ जाती हैं। यही रकाबट सज्जी है।”

सज्जा और संकोच की अविद्यता मानव जीवन के लिए विशेष उप-धेयी नहीं होगी है। इनकी अविद्यता से अन्वहार तथा सिप्याचार का निर्वाह भी कठिन हो जाता है। जैसे बहुत से मनुष्य को प्रथम करन में सज्जा मामूम होती है। ऐसी सज्जा किसी काम की नहीं होगी।

लोक में सज्जा को स्थिरा का भूषण माना जाता है। उसका कारण केवल यही है कि स्थिरा चिरकाम में पुरवों के आधम में रहती धार है इसलिये उन्हें इन बात का ध्यान विधय रहना है कि उनकी कोई अन्-पुरवों के सामने न धाने पाए। इनी बात के कारण उनका मन में प्रायः यह धारणा बनो रहती है कि कहीं हम अप्रिय न मये। यही धारणा उनमें चिरस्थाधी होकर सज्जा के रूप में हो गई है। पुरव में जारी की इस बु-सता की चिरस्थाधी बनाने के लिए उसे धूपय रूप में अविद्य करना प्रारम्भ किया। अन्त में स्थिरों के रूप रंग के अन्त उनकी सज्जा भी

अरम्भविना मितम्भयिता और कृपयता आदि विषयों के बीच की सीमा सब मानकों के मन में एक समाप्त रहती तां यह मनमद दृष्टिमात्र न हुआ । इन्हीं आचार पर मुसलमी कहते हैं—

“बुद्धा के विषय में मतभेद का एक और कारण प्राण्य और अघ्राण्य होने के लिए विषय मात्रा की अनियति है । सृष्टि में बहुधा-सी वस्तुओं के बीच की सीमाएँ अस्थिर हैं । एक ही वस्तु, व्यापार या गुण विन्नी मात्रा में अघ्राण्य का विषय होता है किन्ती मात्रा में अघ्राण्य का । इसके अनिश्चित पिता और उत्सर्ग के कारण एक ही मात्रा का प्रभाव प्रत्येक हृदय पर एक ही प्रकार का नहीं पड़ता । यह नहीं है कि एक बाण एक घावमी को वहाँ तक घण्टी मयती है वहाँ तक दूसरे को भी घण्टी मये ।”

अपने संस्कारों के कारण मानव कई स्थूल और आत्मिक विषयों पर अपनी धार से कुछ धारण कर लेता है । इन्हीं धारों का कारण वह किसी विषय को अविचार समझकर उमम बुद्धा करने लगता है । मुसलमी की धारणा है कि जित्त-जित्त मत धारों में जो परस्पर दुष्ठा देखी जाती है वह अविचार ऐम ही धारों के कारण । एक के आचार-विचार से जब दूसरा पूजा करता है । तब उसकी दृष्टि अभाव में उस आचार-विचार परमही रहती है अतिस अन्वी और न धारोपित बुद्धा का सामान्य आचारों में से किसी एक पर रहती है । इन्हींलिए वे कहते हैं—“मूमाई और ईमाई जोय देव बुद्धकों में इमलिए बुद्धा नहीं करते कि वे छागी वस्तुओं पर अघ्राण्य करने हैं बल्कि यह समझकर कि वे उनके जमीन और आमसात बनाने बाने लुगा में कृपयमी किये कीते हैं । अपने बनाने और पालने बाँधे में बैर ठानना कृपयता है अतः अन्वी बुद्धा धारोपित कृपयता के प्रति है देवबुद्धा के प्रति नहीं ।”

मुसलमी में बुद्धा का भाव में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि बुद्धा विद्वति का भाव विन्नीयती है और जोय प्रवृत्ति का । जोय का विषयबोधा या हानि बर्हुबाने वाला हागा है इममें बोधी उममद करने में प्रवृत्त होना है । बुद्धा का विषय इगिअ या मन के व्यापार में संशोक मात्र उन्दन करने

बाला होना है। भूषा का विषय हमें भूषा का कुछ पहुँचाने के विचार से सामने उपस्थित नहीं होता पर शोक का चेतन विषय हमें साक्षात् का पीड़ा पहुँचाने के उद्देश्य से हमारे सामने उपस्थित होता है या समझा जाता है। यही कारण है कि भूषा विषय में दूर ले जाने वाली है और शोक हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर विषय के पास ले जाने वाली है।

शोक के दौर रूप से भी भूषा मिलती होती है। दौर का अर्थ है व्यक्तिगत होता है भूषा का तात्पर्य है। यही कारण है कि धातुकर्म की बलाबली सम्पत्ता या घिष्टता से 'भूषा' पद और शोक को छिपाने का भी काम हो जाता है। दौर करना एक छोटी बात समझी जाती है। अतः दौर के स्थान पर 'भूषा' का नाम लेने से बसता दौर बचाने सेना हो जाते हैं। 'भूषा' और 'मय' की प्रवृत्ति यद्यपि एकत्री है तथापि दोनों में अंतर है। मय का विषय भावी हानि का सम्पन्न निश्चय करने वाला होता है और भूषा का विषय उनी लक्ष इतिवत् या मन के व्यापारों में संशोक उत्पन्न करने वाला है। यही-यही 'भूषा' शोक का घात व्यापार मान प्रतीत होती है। महारत्ना शोक शोचपूर्ण बातों को मुनकर भी घात करते हैं परन्तु शोक प्रकट करने वाले के प्रति उदासीनता से व्यवहार करते हैं। साधारण लोग भी इसी प्रकार की उदासीनता भूषित व्यक्तियों के प्रति प्रदर्शित कर दिया करते हैं। यही कारण है कि धातुकर्म सम्पत्ता या घिष्टता के व्यवहार में भूषा को उदासीनता के नाम से छिपाने का कल किया जाता है। इन दोनों बलियों में भी अंतर है। जिस बात से हम भूषा हैं, हम उन बात के लिए व्याकुल रहते हैं कि वह बात न हो परन्तु जिस बात से हम उदासीन हैं उनके विषय में हमें परवा नहीं रहनी वह चाहे हो चाहे न हो। यही दोनों के अंतर है।

'भूषा' कोई उपासी मनाविचार नहीं है क्योंकि यह एक श्रेष्ठ मनो-विचार है। प्रत्येक मनोवृत्ति न्यायपूर्ण मर्यादा वाकर बहुत जल्दी बढ़ते हैं। भूषा से भूषा उत्पन्न होकर समाज-व्यवस्था में बाधा उपस्थित कर सकती है। अतः मुश्किली बढ़ने है कि हम भाव से बहुत सावधान रहना चाहिए

घोर लोगों को बहुतसमझ-बूझकर उसे म्यान बना घोर प्रकट करना चाहिए, क्योंकि यदि हमारी भूषा अज्ञानवश ऐसी बस्तुओं से है जिनमें हमें लाभ पहुँच सकता है तो उसके समाप्त का कष्ट हमें मोचना पड़ेगा। धार्मिक वम घोर निर्यात यदि से जित्द भूषा है व उनके लामा से बहित उद्य। किमी बुद्धिमान् मनुष्य मे जा मत म भूषा रणेगा वह उसके मत्मक क लामा मे हाथ बाणगा।

ईर्ष्या—'ईर्ष्या' भी एक घनाशस्वत मनोबिकार है। 'ईर्ष्या' के स्वरूप का विस्लेषण करने हुए तुम्हारी ने लिखा है कि जैसे तुम्हारे के ब ब को देख बुद्ध होना है वैसे ही दूसरे के सुत या मसाई का देखकर भी जो एक प्रकार का दुःख होता है उसे 'ईर्ष्या' कहते हैं। अब किसी विषय में अपनी स्थिति को सुरक्षित रख रखने वा समुत्पन्न वर मकन के निरक्षण म प्रयोगवा वा धानस्य यदि के कारण दुःख वसर रहनी है तभी हम इच्छा वा उद्य होना है कि किमी स्थिति विषय की स्थिति उक्त विषय में हमारे सुख वा हमने बढ़कर न होने पाए। यही इच्छा 'ईर्ष्या' के दुःख को उत्पन्न करने में सहायक हो जाती है। 'ईर्ष्या' के इसी स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए वे हमें नून मनोबिकार नहीं मानते अपितु एक मिथित मनोबिकार स्वीकार करते हैं। इनके विरक्षण के अनुसार ईर्ष्या की मयाणि धानस्य प्रथिमान घोर नैराश्य के योग से होती है। अब हम अपनी उन्नति के लिए प्रयत्न नहीं करते तभी हमारा ध्यान तुम्हों की उन्नति की घोर जा सकता है घोर हमी धरस्ता में यदि हमारा प्रथिमान साप मिल जाए तो हम तुम्हों की उन्नति से दुःखी होने लगते ह। अथिमान एक व्यक्तिगत गुण है। यदि व्यक्ति को अपने गुणों-बन ऐश्वर्य तथा मकियों का परिग्राम है घोर हमी निजी दीर्घ की अनुमति म वह अपने में सर्व की अनुमति भी करता है तो कोई बुराई की बात नहीं परन्तु अब तममें अपने इन विगिण्ण गुणों के प्रदाम की इच्छा उत्पन्न होती है ता यह एक बुराई का रूप धारण करने लगता है। यदि उसे हम बड़ाई के धानस्य वा चयना मम जाएगा घोर वह हर घड़ी इनका अनुभव करना चाहेगा उसे प्रकट किया करेगा तो यह एक

बुद्धि है कि समा-समाज में मित्रमण्डली में परिवार में एकान्त कोठरी में कहीं भी स्वीकार नहीं की जाती ।

'ईर्ष्या' का एक ऐसा रूप भी है जिससे मानव बीजक में कुछ क्षाम भी वृष्टिगोचर होता है । उसे 'स्पर्धा' कहा जाता है । 'ईर्ष्या' व्यक्तिगत होती है परन्तु 'स्पर्धा' वस्तुगत । स्पर्धा में किसी कुछ ऐश्वर्य गुण या मान से सम्मान किसी व्यक्ति को देना अपनी बुद्धि पर दुःख होता है फिर उसकी प्राप्ति की एक प्रकार की उद्योगपूर्व इच्छा उत्पन्न होती है । यहाँ अपनी बुद्धि पर दुःख होता है 'ईर्ष्या' के समाज दूसरे की सम्पन्नता पर नहीं फसल-सुकलभी यह समझते हैं कि 'स्पर्धा' मसार में बुझी प्रतिष्ठित धीरे लुब्धी लोभो की मर्यादा में कुछ बढ़ती करना चाहनी है धीरे ईर्ष्या कमी । यदि ईर्ष्या समाप्त बस्तु ही के लिए होती तब इसके बोध में कुछ बनी मानी जा सकती परन्तु यह तो उक्त व्यवस्था में भी मानव को बलानी रहती है जब कि यह वस्तु-सम्पन्न होता है अतएव सम्पन्न वसा की ईर्ष्या का समाप्तत्व निर्विवाद है ।

सुकलभी का बीजक वर्धन : मानव मन—सुकलभी ने इन मनोविकारों के विरसेपथ से मानव सम्बन्धी अपने वर्धन व विलुप्त को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत कर दिया है । इन विरसेपथ के धाबार पर हम बह जान सकते हैं कि सुकलभी ने इन मनोविकारों की मानव बीजक में क्या स्थिति अनुभव की है तथा इनका प्रभाव किस रूप में अपनी धारणा में स्वीकार किया है । पन्नीर विरसेपथ के उपरान्त यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे मानव को मन के असीत समझते हैं । इन मनोविकारों के कारण ही वह स्वयं धीरे दुर्बल होता है । घसाईं धीरे कुराई के चोतक में मनोविकार ही है । मानव-मन के स्वकथ के सम्बन्ध में उनकी धारणा को 'अविता क्या है धीपक विषय की अधोमिलित वल्लियों में मनक सकन है—

“यही बाहर हैनता-नेलता रोना-गला विलता-मुरभावा बगन् भीतर भा है जिसे हन मन कहत है । त्रिक प्रकार यह जगन् कथमय धीरे गतिमय है जहाँ प्रजार अब धी । मन भी रूप-नाति का बचाल ही है ।

यूजन्जी मन को छठी इन्द्रिय मानते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वे भारतीय दर्शन शास्त्र के अनुसार यह स्वीकार करते हैं कि जिस प्रकार बाह्य अर्थात् ज्ञान के साधन नेत्रादि इन्द्रिय है उसी प्रकार मन मुख-बुलादि के ज्ञान का साधन अर्थात् इन्द्रिय ही है। बही सारी इन्द्रियों का सहायक और मुख-बुलादि का अनुभव कराने वाला है।

मानव का विकास—मानव के विकास के मूल में श्री युजन्जी ने इन इन्द्रियों को ही कारण माना है। वे 'काम्य मे रहस्यवाद' धीरे-धीरे निरन्तर में लिखते हैं—“धारम्य में मनुष्य की चेतन सत्ता इन्द्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही अधिकतर रही। पीछे व्यो-व्यो सम्पत्ता बढ़ती गई व्यो-व्यो मनुष्य की ज्ञान-सत्ता बुद्धि व्यवसायात्मक होती गई है। जब मनुष्य का ज्ञान सौख्य बुद्धि व्यवसायात्मक या विचारारम्भक हाकर बहुत विस्तृत हो गया है।”

इस बुद्धि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि युजन्जी इस सम्बन्ध में मौलिक विकासवादी सिद्धांतों से ही प्रभावित हैं। विश्व प्रपंच की भूमिका भी इसी पक्ष का समर्थन करती है। इसमें उन्होंने अपनी इस धारणा का सबैत दिया है कि मनुष्य जगत् प्रकृत्य दशा में उत्पत्ति करते करते मध्य दशा को प्राप्त हुई है। मानव की धारणा और लोक-रक्षा की सहज प्रवृत्ति ने ही उसे बीजे बीरे उत्कृष्ट दशा प्रदान की है। धारणा और लोक-रक्षा का परस्पर प्रयोगाधिक सम्बन्ध है। धारणा ने लोक-रक्षा की प्रवृत्ति को जत बना दी है और लोक-रक्षा ने धारणा की सम्भावना को निरिच्छत रूप प्रदान किया है। युजन्जी मानव को लोक-रक्षक प्राणी स्वीकार करते हैं और यह कहते हैं कि मानव का अपनी सत्ता का ज्ञान तब लोक-रक्षक है। इसी लोक-रक्षकता के कारण मनुष्य व्यो-व्यो समाज में प्रवेश करता है। उसके मूल और दुःख का बहुत-सा अंश दूसरों की क्लियामा प्रवृत्ति पर अवलम्बित हो जाता है और उसके अनाधिकारों के प्रवाह तथा जीवन के विचार के लिए अधिक रोष हो जाता है। युजन्जी के मनो-विचार संस्कृत विरमेषम में मानव की यही सामाजिकता सम्बन्धी धारणा

मूल आधार बन गई है। किसी मनोवृत्ति की उपयोक्तता या अनुपयोक्तता के सम्बन्ध में उसकी सरोपता या निर्दोषता के सम्बन्ध में उसकी धन विव्रता या पवित्रता के सम्बन्ध में उन्होंने जो धर्म निर्णय प्रस्तुत किए हैं वे सब मानव की सामाजिकता को आधार मानकर ही किए हैं।

धर्म-आधर्म—युक्लजीवी धर्म-आधर्म सम्बन्धी भाष्यताओं का भी सामाजिकता ही आधारभूत है। नैतिकता और धर्म के विकासके सम्बन्ध में उनकी बारम्बार बिकासवाद का आशय लेकर ही निमित्त हुई है। वे धर्म को सामाजिक नियमों के रूप में ग्रहण करते हैं। इसके लिए उन्होंने किसी धार्मिक लिखित शास्त्र की भाष्यताओं को मुख्य रूप से आधार बनाने का यत्न नहीं किया है। उनकी धर्म-सम्बन्धी बारम्बार धारमपक्ष और लोकरपक्ष के सम्बन्ध में पर आधारित है। 'बोस्वामी तुमसीदास' की आलोचना करते समय उन्होंने अपनी इस धारणा को इन शब्दों में स्पष्ट किया है—

'हमें अपनी धर्मवृत्ति भी कुछ और तात्त्विक रखनी चाहिए और धर्म के सम्बन्ध में लोक की धारणा भी धारणी बनानी चाहिए। जिसका प्रभाव लोक पर न पड़े उसे अनुप्यत्व का पुत्र बिकास नहीं कह सकते। यदि हम बल्लुत तात्त्विक धीम हैं पर मीय भ्रमवस मा और किसी कारण हम कुछ सम्बन्ध रखें हैं तो हमारी तात्त्विक धीमता समाज के किसी उपयाम की नहीं। 'धर्म' के विवेचन प्रसंग में भी उन्होंने धर्म के धर्म का स्वरूप स्पष्ट किया है। उनके धर्म का आधार को ईश्वरीय आश की वृत्तक नहीं धर्मिणु लोक कस्मान एक समाज व्यवस्था की गद्या ही है। इसी व्यवस्था व धीम को धर्म का पर्यायवाची समझते हैं। उनका विश्वास है कि धीम या धर्म के सामाजिक सञ्चालन के प्रत्येक सम्बन्धन समुदाय में प्रतिष्ठित है। धर्म ही न अनुप्य-भाषाज की स्थिति है यत उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का अविमर्श मजबूत धारि नहीं। किसी धर्म में प्रवृत्त होने से पहले वह स्विकार करना आवश्यक होता है कि वह धर्म या तो हमारे लिए वा समाज के लिए धारणी है। इस प्रकार की स्वीकृति धर्म (धर्म) की पहली शर्त है। इस प्रकार वे धर्म के निर्णय की बसोटी हमारे सम्मुख प्रस्तुत

कर देने हैं। उनकी दृष्टि से यज्ञा धर्म की पहली सीढ़ी है क्योंकि इसके द्वारा हम आत्मन्वपूर्वक यह स्वीकार कर लेते हैं कि कर्म के समुच्चय-समुच्चय दृष्टान्त धर्म के हैं।

धार्मिक धर्म की व्याख्या के मूल में श्री मुक्ताजी की इसी धारणा का दर्शन होता है। 'मानव की धर्मभूमि तीर्थक लेख में उन्होंने धर्म का महत्त्व किया है और उसकी ऊँची-नीची भूमियों का उल्लेख किया है। इसके अनुसार ब्रह्म के मत्स्वरूप की व्यक्त प्रकृति धर्म है। धर्म विरह स्थिति में इन धर्म के दर्शन हो सकते हैं। परिवार और समाज के छोटे छोटे मीकर समस्त भूमिगत और धर्म विरह तक इसी धर्म का प्रसार है। उनके कहने का अभिप्राय यही है कि धर्म विरह की स्थिति रक्षा ही पूर्ण धर्म है। यह पूर्ण धर्म पूर्ण-पुरुष या पूर्णोत्तम में ही रहता है। जैसे ब्रह्म का सम्बन्ध हम धर्म-विरह की स्थिति रक्षा करके पूर्ण धर्म का अधिष्ठानता कहना है, इसी प्रकार मानव भी विरह रक्षा की भावना का अपने धर्म-करण में विस्तार करके धर्म-विरह कहना सकता है। इसी धारणा के आधार पर मुक्ताजी ने धर्म की भूमियाँ प्रतिपादित की हैं। वे कहते हैं—

"धर्म की ऊँची-नीची कई भूमियाँ लभित होती हैं—जैसे-गृहधर्म, कुलधर्म, समाजधर्म, लोकधर्म और विरहधर्म या पूर्णधर्म। धर्मो परिमित धर्म के अन्वय में सम्बन्ध रहने वाला धर्म उच्च बोटि का है। धर्म की उच्चता उसके धर्म के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है। गृहधर्म या कुलधर्म में समाजधर्म व्योक्त है समाजधर्म में लोकधर्म समाजधर्म में विरह धर्म जिसमें धर्म अपने धर्म और पूर्णस्वरूप में दिखाई पड़ता है। यह पूर्ण-धर्म धर्म है और देव धर्म संग।" हमने यह स्पष्ट है कि मुक्ताजी की दृष्टि में विरह रक्षा की भावना में प्रथम धर्म ही धर्म है। यही कारण है कि धर्म की धारणा व्यक्तित्व धर्म की धारणा लोकधर्म में परिमलित होती है।

लोकधर्म—उनके हम लोकधर्म के तीन धर्म हैं—धर्म, ज्ञान और उपासना। वे मानव जीवन की पूर्णता इन तीनों के सम्बन्ध में ही मानते हैं। वे अपने लोकधर्म की व्याख्या इन धर्मों में करते हैं—

“संसार बीसा है बीसा मानकर उसके बीच से एक-एक कोमे को स्पर्श करता हुआ जो बर्म निकलेगा वही मोक्षबर्म हाया। जीवन के किसी एक क्षण मात्र का स्पर्श करन बासा बर्म मोक्षबर्म नहीं। “जगता की प्रकृतियों का धीसत निकालने पर बर्म का जो मात्र निर्धारित होता है वही मोक्ष बर्म होता है।”

इसी प्रसंग में उन्होंने विविध द्वारा प्रकीर्ण समाज शास्त्र में बलिष्ठ जगता के चार विभागों का उल्लेख किया है—लोक उग्रही लोकबाह्य धर्मोकोपधोनी और लोक विरोधी। लोकउग्रही वे हैं जो समाज की व्यवस्था धीर मर्यादा की रक्षा में तत्पर रहते हैं और भिन्न-भिन्न बर्मों के परस्पर सम्बन्ध को मुखावहू और कल्याणप्रव करने की चेष्टा करत हैं। लोकबाह्य वे हैं जो केवल अपने जीवन-निर्वाह से काम रखते हैं और लोक के हितवाहित से उदासीन रहते हैं। धर्मोकापधोनी वे हैं जो समाज में मिले ता बिछाई देते हैं पर उनके किसी धर्म के नहीं हाते जैसे घामसी और निकम्मे जिन्हें पेट भरना ही कर्जिन है। लोक विरोधी वे हैं जिन्हें लोक से द्वेष होगा है और जो उसके विधान धीर व्यवस्था को देखकर जला करते हैं। पुण्यात्मा धार्मिक धीर पापात्मा अधार्मिक के परबने की सुकमजी की कसीटी इसी उल्लेख से स्पष्ट की जा सकती है। जगुब बर्म के भोग ही पापी कहता सकते हैं और प्रथम बर्म के भोग ही वास्तव में पुण्यात्मा धार्मिक कहता सकते हैं।

व्यक्तिधर्म और मोक्षधर्म के विरोध की स्थिति में सुबलजी मोक्षधर्म को ही शाह्य मानते हैं। व्यक्तिधर्म का उल्लेखन भी इस स्थिति में उनको प्रिय है। उनका विश्वास है कि यदि किसी धर्याधारी का दहन तीधे म्यामगत उपाया में नहीं हो सकता तो दुटिल नीति का व्यवस्थान लोक धर्म की दृष्टि में उचित है। किसी धर्याधारी द्वारा समाज को जो हाति पहुँच रही है उनके मामने वह हाति कुछ नहीं है या किसी एक व्यक्ति के बुरे कृष्णस्य में होगी। सत्य परिस्थापक धीर श्रेष्ठ हैं ता साधन का परिधायं धर्मोधिग उतना दल नहीं सकता है। उनका बचन है कि व्यक्ति

यह सफलता के लिए जिसे नीति कहाँ है सामाजिक धारण की सफलता का ताकत होकर नहीं बर्न हो नाठा है ।

नियम और शील — मुसलजी ने बम के दो धर्मों नियम और शील का उल्लेख किया है । व कहत है कि नियम का सम्बन्ध विवेक म है और शील का रूप मे । सत्य बोलना प्रतिज्ञा का पालन करना नियम के अन्तर्गत है । दया क्षमा वास्तव्य कृत्तता आदि शील के अन्तर्गत ह । इनकी कारण है कि शील की रखा के लिए नियमों का विहित किया जा सकता है धर्मात् किसी निरवस्था की रखा के लिए झूठ बोला जा सकता है । यदि किसी प्रकार नियम और शील दोनों की रखा की जा सके ता नहीं उल्लेख मार्ग कहना सकता है ।

मासिकवाद और मुसलजी का लोकधर्म — बम और समाज सम्बन्धी उक्त धारणों को देखकर हम मुसलजी को मार्क्सवादी नहीं कह सकते । नि सन्देश मुसलजी व्यक्ति की अपेक्षा समाज को महत्व देते हैं परन्तु वे मार्क्स के साम्यवाद का समर्थन नहीं करते । उनके चिन्तन के मूल में भारतीयता का धर्म प्रमुख है । व्यक्ति सर्वथा उपेक्षित नहीं हो सकता है । समाज की सुखबस्ता के लिए व्यक्ति की भावनाओं का प्रथम देना पड़ता है । मार्क्स का साम्यवाद हम सत्य की पद्धतलता करके बर्नहीन समाज की कल्पना करता है । मुसलजी का चिन्तन हम कल्पना को समाज के लिए प्रथम धारिणी समझता है । वे कहते हैं कि "परिवार में जिस प्रकार औषधी-नीची धरिणी होती है उसी प्रकार शील विद्या कुटिल सक्ति आदि की विधि ब्रता मे समाज में भी भीची औषधी धरिणी रहनी । कोई धाधम हाया कोई शिष्य कोई राबा हाया कोई प्रजा कोई अफसर होमा कोई मानहन कोई सिपाही हाया कोई मनापति । यदि बड़े छोटे के प्रति बु शील हाकर हर समय दुर्बलन बहते नगे यदि छोटे-बड़ों का पावर सम्मान छोड़कर उल्लेख घाल दिवाकर डाटन सये ता समाज बस ही नहीं सकता ।"

साधारण धर्म और विवेक बम — समुप्य मात्र का समुप्य मात्र के प्रति जो सामान्य कर्तव्य होता है, उसके प्रतिरिक्त स्थिति का व्यवधान

विशेष के अनुसार भी मनुष्य के शुद्ध कर्तव्य होते हैं। जैसे माता-पिता के प्रति पुत्र का पुत्र के प्रति पिता का इत्यादि। बड़-छोटे का विभाप इसी विशेष बर्ण की सीमा में आता है। मूल्यही की चारणा के अनुसार वही बड़ा है जो दूसरो के हित में बंधितक सुख का त्याग करता है और जो सोफ-नस्यान के लिए कठिन कर्तव्यों का पथ लेकर चलता है। इस प्रकार वैय-दिकक सुख का त्याग और कठिन कर्तव्यों का परिग्रहण जिस परिमाण में होगा उसीके अनुपात से बह्यपन्न होगा। भारतीय बर्ण-व्यवस्था के प्रति उनकी धारणा इसी कारण से है। वे कहते हैं कि संसार के और देशों में जो मह प्रबलित हुए उनमें आध्यात्म बर्ण का ही पूर्ण समवेद्य ही सका विधेय बर्णों की बहुत कम व्यवस्था हुई। पर सार्वभौमी और बुद्धिही के तटों पर पन्न-द्विज धर्म सम्यता के धर्मगत जिस बर्ण का प्रकाश हुआ विशेष बर्णों की विस्तृत व्यवस्था उनका सारा हुआ और वह 'वर्णात्मक बर्ण' कहाया। इसी बर्ण के आधार पर भारतीय बर्ण-व्यवस्था स्थापित हुई है। वह बचन व्यवस्था और मात्र-व्यवस्था करती है और समाज में सामंजस्य की प्रतिष्ठा करती है। यही सामंजस्य वास्तविक समता होती। केवल धार्मिक समता का प्रयत्न मूर्खवृत्तित समाज का निर्वाह नहीं कर सकता है। भारतीय बर्ण व्यवस्था के मूल में मूल्यही ने व्यक्तिगत सुख का त्याग और कठिन कर्तव्य योजना का रक्षण किया है। इसके प्रतिष्ठित उच्च बर्ण में अधिक मात्रा का धार्मिक प्रवृत्तार के साथ कठिन कर्तव्यों की योजना और निम्न बर्णों में कम मात्रा और कम प्रवृत्तार के साथ धार्मिक व्यवस्थाओं में आधार की योजना भी इस व्यवस्था की एक उल्लेखनीय विशेषता है। इसीमे वह जीवन निर्वाह की बुद्धि में स्थिति में सामंजस्य रखती थी।

कम की बर्णहीत व्यवस्था में मूल्यही सर्वथा प्रभावित नहीं हुए थे। इसका प्रमाण 'योस्वामी सुममीशान' के शोक नीति और सर्वदाचार नामक प्रथम की निम्नलिखित वक्तव्यों प्रस्तुत करती है—

"द्वेषी धेधियों के कर्तव्य की बुद्ध-व्यवस्था न होने में ही विशेष में नीची धेधियों में हीर्ष्या द्वेष और प्रवृत्तार का प्रायस्य हुआ त्रिभने लाभ

उत्पादक 'भक्ति' अपने समय में महात्मा बना रहा। समाज की ऐसी बुनियादों पर स्थित 'माहात्म्य' का स्वीकार और प्रमत्त का मुक्त है। मुक्त बनना क इस माहात्म्य-प्रदान पर न भूमना चाहिए।

यस की समाज-व्यवस्था को केन्द्रित बग की बुद्धिमत्ता पर धारणात्मक मानते हैं। ऐसी स्थिति में उनका विश्वास है कि विशिष्ट प्रतिष्ठा के विकास का एक लौकिक उत्कर्ष का संभव संभाव रहेगा। इसीलिए के लिये है कि—

"जब वे सारी सारी विद्वानों और बुद्धिमत्ता का भागना इस बाल का धारणा है रहा है। अन्य स्थिति वालों की महत्कार बुद्धि का मुक्त करने वाला 'नाम्न' रात्र ही उत्कर्ष का दिग्दर्शी है।"

सूक्तकी समाज की विपत्तियों के मूल में मानव की बुद्धिमत्ता के प्रसार को ही बोधी समझते हैं। पृथक् कर्म और स्वभाव के अनुसार ही यदि बर्ष व्यवस्था हो व्यवस्था विभिन्न हों तो यह विपत्तियाँ भी नमता ही है। इसके विपरीत यदि जगत् तथा जात्यभिमान का महत्त्व बिना जाने लक्ष्य का समझ में व्यवस्था उत्पन्न होती। जगत अभिमानों की बुद्धि समाज की विपत्तियों का कारण टकरती है। इसी अभिमानों के कारण किसी व्यवसायों को या नीचा समझा जान लक्ष्य है। इस प्रकार समाजम छोटाई बढ़ाई का अभिमान जगत् जगत् जगत् कर दृष्ट हो जाता है और उसके विपरीत-विपरीत बर्षों के बीच स्थायी ईर्ष्या स्थापित हो जाती है और इसीसे बर्ष लक्ष्य की नीच पड़ जाती है।

समीक्षात्मक का परिष्कार—सूक्तकी बुद्धियों के समझ क पक्षपाती नहीं है परन्तु वे उनका परिष्कार-परिष्कार सम्भव समझते हैं। बुद्धियों के समझ में ता मानव का स्वभाव ही विशिष्ट होने लगता है। बुद्धियों का परिष्कार ही मनुष्य के कल्याण का उचित माग है। उनकी दृष्टि में मानव का लक्ष्य स्वभाव और लौकिक-समय के संगम पर पड़ना है। इस समय के लिए प्रकृति के क्षेत्र के बीच मनुष्य का अपने लक्ष्य के प्रसार का ध्यान करना चाहिए। इसी प्रसंग में के लिये है कि जब मनुष्य के लक्ष्य

वीरभानु का मेम छेप प्रकृति के मुक्त-सौन्दर्य के साथ हो जाएगा जब उसकी रक्षा का भाव तूष-मुष्म बुद्ध-नता पद्म-पत्नी कीट-पर्वत सबकी रक्षा के साथ समन्वित हो जाएगा तब उसके अक्षरों का उद्देश्य पूर्ण हो जाएगा और वह जन्म का सच्चा प्रतिनिधि हो जाएगा ।

मुक्ति स्वर्ग नरक—पुरुषजी की दृष्टि में मुक्ति का मार्ग धर्म का विकास ही है । मोक्ष का मार्ग धर्म मार्ग से धर्म-अध्याय नहीं जा सकता है । धर्म का विकास इसी लोक के बीच हमारे परस्पर व्यवहार के भीतर होता है । इस लोक को दूषित करके किसी परलोक को सुधारने की कल्पना उनको प्रिय नहीं है । ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्वर्ग-नरक सम्बन्धी धर्म मार्गों को कुछ लोक धर्म में प्रकृतिके लिए धर्मवाद स्वल्प मानते हैं । 'मूक बाध' नामक ग्रन्थ में अक्षि के विकास को स्पष्ट करते हुए वे धर्म के तीन धर्मों—धातु धर्म, बुद्धि धर्म और हृदय का उल्लेख करते हैं । स्वर्ग-नरक के वर्णन धातु धर्म के अन्तर्गत है । ये केवल विद्वानों में धर्म प्रकृति उत्पन्न करने के लिए हैं ।

यह सकार ही मनुष्य के धर्म प्रसार का क्षेत्र है या अधर्म का दण्ड नियमों का स्थान है । मनुष्य ही धर्म स्वर्ग या नरक का विधान कर लेता है । पुरुषजी का संसार का अस्तित्व भी मानव-कल्पना के सम्बन्ध से ही स्वीकार करते हैं । वे कहते हैं कि मनुष्य धर्मों के लिए सकार धर्म बनाता है । सकार तो कहने-सुनने के लिए है वास्तव में किसी मनुष्य का संसार तो वे ही लोग हैं जिन्होंने उनका संसार या व्यवहार है । धर्मों इस संसार को मानव स्वर्ग सुखमय या दुःखमय बना सकता है । इनके लिए उसे धर्म धर्म-करण में सात्विकता का अभाव ही आवश्यकता है । यह सात्विकता कदवा मठा धर्मि आचार्यों के विचार से ही उत्पन्न ही जा सकती है ।

ब्रह्म का दर्शन—पुरुषजी के धार्मिक मतधर्मों का बही साह है कि अक्षिदानन्द ब्रह्म का दर्शन व्यक्त जन्म में ही हो सकता है । लोक की रक्षा 'जन्म' का ध्यान ही लोक का संसार 'परमानन्द' का ध्यान है । मानव के जीवन का 'धिन्' जब बाह्य 'सत्' का साक्षात्कार करता है तब मानव का

आविर्भाव होता है। इसी सौर के बीच तर में नारायण की दिव्य कला का सम्यक दर्शन और उसके प्रति हृदय का पूर्ण भिषेवन वास्तविक साधना है। सौर तथा रूप बर्म की रसायनक अनुभूति भक्ति है। सुष्मजी ने इन्हीं दार्शनिक मन्त्रम्यों की पृष्ठभूमि में अपने साहित्यिक चिन्तन का विस्तार व प्रसार किया है।

हृदय में अनुभूति होती है ठीक उसी रूप में शब्दों द्वारा वह प्रेषित नहीं की जा सकती है। कवि को अपने इस कार्य में अन्तःकरण की तीन शक्तियाँ—कल्पना वासना और बुद्धि से काम लेना पड़ता है। कवि सङ्कल्प एवं भावुक होता है। वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का पूर्ण सामंजस्य कर लेता है। उसकी सङ्कल्पना सृष्टि व्यापिनी हो जाती है। वह मर प्रकृति और बाह्य अथ प्रकृति के रूपों व स्थापानों में समान कवि चारण कर लेता है। इस प्रकार वह अल्प के विभिन्न तन्त्रों का प्रत्यक्षीकरण करके उनमें से सामिक तन्त्रों का मन्त्र करके अपनी सृष्टि की रचना कर लेता है। यह सृष्टि उसकी वाणी का प्रसार होती है। इसी वाणी के प्रसार से हम ससार के सुख-दुःख घानन्द श्लेष आदि का कुछ स्वार्थ-मुक्त रूप में अनुभव करते हैं। कवि की विषयक कल्पना उसकी इस कार्य में पूर्ण सहायता करती है। यही उसे अग्रगण्य-विधान में सहायता प्रदान करती है। इसी के सहयोग से वह अपनी अनुभूति के प्रकाश के लिए उपयुक्त उपमान एवं प्रतीक अथवा अज्ञात संकल्पित करण में समर्थ हो जाता है।

कवि सौन्दर्योपासक होता है। उसकी सृष्टि तो सौन्दर्य की धोर जाती है चाहे वह जहाँ हो—वस्तुधा कल्प-रंग में अपनी अनुभूतियों के मूल बचन और कर्म में। जीवन की अनेक परिस्थितियों के भीतर वह सौन्दर्य का साक्षात्कार करता है। अतएव उसकी रचना में कोई बात नहीं कही जा सकती है न बुरी न दुःख न अशुभ न उपयोगी। सब बातें केवल दो रूपों में लिखी जाती हैं—सुन्दर, अशुन्दर। जिसे पामिक सुख या मयम कहता है कवि उसके सौन्दर्य पर ही ध्यान भी मुक्त रहता है और दूसरों को भी मुक्त करता है। जिसे अमंज्र अपनी सृष्टि के अनुसार सुख या मंगल समझता है उसको कवि अपनी सृष्टि के अनुसार सुन्दर कहता है। सृष्टि भेद अथवा है। पामिक की सृष्टि जीव के अस्थापन पर्यन्त न मुक्त अब अग्रगण्य में मोक्ष आदि की धार रहती है पर कवि का सृष्टि न मन्त्र वाणी की धोर नहीं रहती। वह अथवा अज्ञात है अथवा सौन्दर्य दिशाई पड़ता है।

परि उपदेश्य नहीं जाना है। वह नीति धर्मोपनि की निशा नहीं देता

है। वह तो केवल सीरम के प्रभाव द्वारा प्रकृति वा निर्बुद्धि घटत प्रकृति में उत्पन्न करता है। वह सीरम में स्वयं प्रभावित होता है और दूसरों को भी प्रभावित करता है। वहाँ वह पार्थिक उपरोक्तों के समान मगम पक्ति की सम्मता दिखाता है वहाँ भी वह कसा भी बुद्धि से सीरम का प्रभाव जानने के लिए ही उत्पन्नता दिखाता है। बर्मघासक की हैसियत से उराने के लिए नहीं कि यदि ऐसा कर्म करोये तो ऐसा कर्म पापीये। किसी छुस्वमपी प्रेरणा से उसकी कल्पना में कई प्रकार के सीरम का जो मेम दाप-से-दाप हो जाता करता है उसे पाठक के सामने भी वह प्राब रख देता है।

प्रकृति-निर्बुद्धि की उत्पन्नता घटत-करण में उत्पन्न करने के लिए कवि के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह सदा असामान्य अद्भुत और अल्प-कल्पनार वाली वस्तुओं की ओर ही बुद्धि से जाए। जो सच्चा कवि होगा है उसके द्वारा अल्प साधारण वस्तुएँ भी मन को उत्पन्न करने वाली होती हैं। साधारण के बीच में यथास्थान असाधारण की योजना करना लक्ष्य प्राब कसा बुद्धत कवि का ही काम है। साधारण-असाधारण घनेक वस्तुओं के मेम से एक विस्तृत और पूर्ण चित्र अंकित करने वाले ही कवि बड़े जाने के अर्थकारी हैं। साधारण के बीच में असाधारण की प्रकृत अभिव्यक्ति ही सचनी है। साधारण में ही असाधारण की गता है केवल असाधारण कवि वा लक्ष्य नहीं होता है और न ही उसरा अल्प अपनी अर्थना प्रधाती को असाधारण रूप देना ही होता है।

प्राब—शुस्वमी की काव्य स्वरूप सम्बन्धी धारणा का दूसरा आधार प्राब है। कवि इस अर्थक जनत् के प्रति अपनी समारमक अनुभूति की अभिव्यक्ति प्राब योजना द्वारा करता है। वस्तु प्राबना जो इसी प्राब योजना का ही अर्थ है। जैसे अर्थक जनत् के अर्थ पराती को अर्थक केनन अर्थकियों के अर्थक एकी तथा व्यापारों को अर्थक के अर्थक कवि-हृदय विभिन्न अनुभूतियों में पूब हो जाता है। अर्थक इसी प्रकार कवि द्वारा अर्थक प्राब भी अर्थक विद्या जाता है। शुस्वमी प्राब द्वारा प्राब की अर्थक करने में कवि के दो रूप अर्थक करते हैं—महज और आराधित। यदि अर्थक कविने प्राब वाले

मीथर्म माधुर्य विचित्रता भीषणता क्रूरता इत्यादि की भावनाएँ बाहरी करी घोर व्यापारों में ही निष्कम्भ हुई हैं। हमारे प्रेम भय धारणर्ष क्रोध कण्ठा इत्यादि भावों की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आत्मस्वम बाहर ही के हैं—इसी कारणों घोर लंघे हुए व्यात्मक जपन् के ही हैं। जब हमारी जीवों देहन में प्रवृत्त रहनी हैं तब रूप हमारे बाहर प्रतीत होते हैं। जब हमारी बुद्धि धर्ममूर्खी होती है तब रूप हमारे भीतर दिखाई पड़ते हैं। बाहर-भीतर दोनों धार रहने रूप ही हैं। इसी मत्पना के साधारण पर वे काम्य का काम मनुष्य के सब भावों घोर मनोबिचारों के लिए प्रकृति के अपार क्षेत्र से आत्मस्वम का विषय चुन-चुनकर रखना स्वीकार करते हैं घोर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि काम्य का सम्बन्ध जपन् घोर जीवन की अनेक रूपना के साथ स्वतः सिद्ध है। कवि जब अपनी अन्तःप्रकृति का बाह्य प्रकृति के साथ सामंजस्य बटित करने का प्रयास करता है, जब वह अपनी आवात्मक लता का प्रसार बाह्य जपन् के व्यापक लक्ष में करने का उपक्रम करता है तभी काम्य का कुछ स्वरूप प्रकट होने लगता है।

मुश्किली ने इन व्यापक क्षेत्र का भी विस्मयम किया है। वे कहते हैं कि काष्ठ दृष्टि नहीं तो नरक्षेत्र के भीतर रहनी हैं कहीं मनुष्येतर बाह्य दृष्टि के घोर कहीं नरक्षेत्र चराचर के भीतर रहनी हैं।

नरक्षेत्र—उसकी चारणा है कि नरक्षेत्र की बाह्य प्रकृति घोर अन्तः प्रकृति के भावात्मस्वमों घोर पारस्परिक विचारों का संक्रमण का जू माधना ही कारणों में अधिकतर बारी जाती है। वह नरक्षेत्र भी बड़ा व्यापक है। मानव के समस्त व्यापारों के मूल में प्रवर्तक रूप में जाब रहते हैं। इन भावों का लक्षण बाह्य जपन् के अनेक रूपों तथा व्यापारों में ही होता है। अणुबिन्दु अकार जगन् अनेक रूपामक घोर विस्तृत है इसी प्रकार मनुष्य भी अनेक आवात्मक है। मनुष्य के शरीर के अनेक अक्षरों घोर भाव हो पत्र हैं वैन ही उनके हृदय के भी कोयल घोर तीव्रण बटोर, मधुर, घोर का पत्रा हैं। काम्य की दृष्टि इन दोनों पक्षों को घोर निरन्तर रहनी है। उनमें इन दोनों का समन्वय संश्लेषण होता है। वे कहते हैं कि प्रेम अक्षिणाप

बिखर घीसुपन हर्न धारि बोझी-मी मनोवृत्तियों का एक छोटा सा घेरासम्पूर्ण
 काव्य श्रेय नहीं हो सकता है। इन भावों के साथ धीरे धीरे भाव जैसे श्लेष
 में उल्लाह पूजा इत्यादि ऐसी कठिनता से युग्मित हैं कि सम्पूर्ण काव्य
 वृष्टि उनको घमन नहीं छोड़ सकती। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

“काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेम भाव की कोमल व्यञ्जना में ही नहीं माना
 जा सकता जैसा कि टास्टाय के अनुयायी या कुछ नत्तावादी कहते हैं।
 श्लेष धारि उच्च धीरे प्रकण्ड भावों के विधान में भी यदि उनकी तरह में
 कल्प-भाव सम्बन्ध रूप में स्थित हो पुर्यं मौर्ध्व का साक्षात्कार होता है।”

मनुष्योत्तर बाह्य वृष्टि—प्रकृति—काव्य स्वरूप के निर्माण के लिए
 नर प्रकृति के विश्रय के समान ही मानवोत्तर बाह्य वृष्टि के उन्मेष को भी
 शुभ्र जी धनिकार्य समझते हैं। मानव की परिस्थिति उसके जीवन का धाम
 म्बन है घट उपचार से वह उनके भावों का धामम्बन है। वन पर्वत नदी
 निर्भर धारि प्राकृतिक वृक्ष मानव के राग या रतिमान के स्वतन्त्र धाम
 म्बन हैं। उनमें सहृदयों के लिए सहज धार्क्यम वर्तमान है। इन दुन्दुवों के
 धमनत जो वस्तुएँ धीरे व्यापार होये उनमें जीवन के मूल स्वरूप धीरे
 मूल परिस्थिति का सामान्य पाकर मानव की वृत्तियाँ तस्मीन होती हैं। शुभ्र
 की का यह सिद्धान्त है कि प्राकृतिक वन केवल धर्म रूप से ही हमारे भावों
 के धामम्बन नहीं है स्वतन्त्र रूप में भी है। जिन प्राकृतिक वृक्षों के बीच
 हमारे धारिप पूर्वज रहे धीरे धम भी मनुष्य जाति का धार्क्यांग धमनी
 धानु ध्यतीत करता है उनके प्रीति प्रम भाव पूर्व-जाहृवर्ष के प्रभाव में
 संस्कार या वातना के रूप में हमारे धम करण में निहित है। उनके दर्शन
 का काव्य धारि में प्रवर्धन में हमारी भीतरी प्रकृति का जो धनुर्वन होगा
 है वह धस्वीडन नहीं किया जा सकता है। इस धनुर्वन को केवल विली
 धुनरनी की धारणा के अनुसार मानवोत्तर जड़ प्रकृति की काव्य का राग
 है। उनका वर्णन जो शब्दों में हो सकता है—उद्दीपन रूप में तथा धामम्बन
 रूप में। निम्नोक्त प्राचीन मागधीय काव्य-शास्त्र की रम-निरागन-वृष्टि में

घातम्बुको के बीच बाह्य प्रकृति को स्थान नहीं मिला है। वह उहीनन मात्र मायीय है। यही कारण है कि प्रायः मनुष्यों के रूप व्यापार या मजदूरियों के साक्ष्य साक्ष्य की दृष्टि में प्राकृतिक वस्तु-व्यापार जामे जाते रहे हैं। ऐसे स्थानों में वे व्यापार तर सम्बन्धी मायना को ही तीव्र करने के लिए रहे जाते हैं। मुख्य की घातम्बुन रूप से भी प्राकृतिक वर्धन को महत्त्व प्रदान करने हैं। उतकी धारणा का आधार उनका यह विश्वास है—“मनुष्य रूप प्रकृति के साक्ष्य बनने सामाजिक सम्बन्ध का विस्तार करने से अपने मान्य की व्यापकता को गप्ट करता है। बुद्धि की व्याप्ति के लिए मनुष्य को जिस प्रकार विसृष्ट और अनक सामाजिक क्षेत्र मिसा है उन्ही प्रकार जाओ (मन के क्षेत्रों) की व्याप्ति के लिए भी। धन वहि घातम्बु वा प्रसार के कारण मनुष्य हम द्वितीय क्षेत्र को मजुचित कर लेता तो उतका घातम्बु पशुओं के मान्य से विशाल किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता। धन यह मिस हुआ कि धन बचन नहीं निर्भर, पशु-पक्षी क्षेत्र-वारी इत्यादि के प्रति हमारा प्रथम स्वाभाविक है मा कम-से-कम बाधना के रूप में धन करण में निहित है।

इस सम्बन्ध में पढ़ीने यह कि वास्मीकि और महाकवि कामिदास को प्रथम घातर्ष माना है। वे वास्मीकीय रामायण को मार्केकाण्ड का घातर्ष स्वीकार करते हैं, क्योंकि इसमें राम के रूप मुख रील स्वभाव तथा रावण की विसृष्टता घनीति तथा प्रयाचार भावि का पूरा चित्रण तो मितना ही है साक्ष ही अपोप्या चित्रकट, पथकारण्य धारिना चित्र भी पूरे शीते के साक्ष सामने धाना है। इसी प्रकार उनका विश्वास है कि महा कवि कामिदास के दुयान सम्बन्ध के धारण्य में हिनामण वा जो चित्रण वर्धन मिसा है वह केवल शूवार के उहीनन की दृष्टि में नहीं है वह तो घातम्बुन रूप में ही रिया गया है।

शुवनरी काण्य में प्राकृतिक वस्तुओं के परिचयन वा लक्षित मात्र को उपादेय नहीं समझते। केवल वरिचयन वा लक्षित में वस्तु का पाठन वा शीता की वस्तुता में सर्वप्रकार मात्र होता उनक लक्ष्य वा दिग्ग पदक

नहीं। काम्य के लिए वस्तु के बिम्ब ग्रहण की अपेक्षा होती है। इन वस्तुओं के रूप धीरे धीरे धास-धास की परिस्थिति का व्योम जितना स्पष्ट होगा उतना ही पूर्व बिम्ब ग्रहण होगा केवल उद्दीपन होने के लिए रूप का बोझ-बोझ प्रकाश या संकेत-मात्र संकेत है पर 'प्रात्मगत' होने के लिए वृक्ष धीरे स्पष्ट स्फुरण होता चाहिए।

इसके प्रतिरिक्त वे काम्य के लिए प्राकृतिक पदार्थ म सुन्दर-असुन्दर का कोमल-कठोर का साधारण-असाधारण इत्यादि का भेद धनिवार्य नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि प्रकृति प्रकृत रूपों में हमारे सम्मुख धानी है—कहीं मधुर, मुसम्बित या सुन्दर रूपों में कहीं बेडौल या कर्मण्य रूप में कहीं अम्य विद्यास या बिचित्र रूप में कहीं उग्र कराम या भयकर रूप में। सच्चे कवि का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है। प्रकृति की ममता मधुरता मरसता प्रफुल्लता, विद्यासता बिचित्रता से ही प्रभावित होनेवाले वास्तव में भावुक या सहृदय नहीं हैं। उनका यह मिश्रण है कि साधारण के उत्कर्ष के लिए भी सर्वत्र प्रात्मगत का असाधारणत्व अपेक्षित नहीं होगा। साधारण से साधारण वस्तु हमारे सम्भीर से सम्भीर भावों का प्रात्मगत हो सकती है। सच्चे कवि द्वारा चित्रित साधारण वस्तुओं भी मन को तस्मीन करने वाली हो जाती है। धन प्रसंग प्राप्त साधारण-असाधारण सभी वस्तुओं का बल कवि का कथम्ब है। वे साधारण वस्तु के प्रति साहचर्य में उत्पन्न होनेवाले प्रेम को अत्यन्त प्रभावकारी समझते हैं, उनमें वृत्तियों को तस्मीन करने की शक्ति स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि यह तस्मीनता असाधारणत्व पर अवलम्बित नहीं है। यही कारण है कि कविता हममें सङ्कलन में मात्र रहा है। कवि वेदों के भी कवि जिन टीसों पर, कवि नदी-नासों के किनारे हम अपने मावियों को मकर बँटने रहे हैं। उनके कवि हमारा प्रेम जीवन भर स्थायी होकर बना रहता है। उनकी वृष्टि में प्रेम प्रमाणात्कार की कवि सहृदयता की पहचान नहीं है। अनुप्येतर प्रकृति के संकेत रूपों तथा व्यापारों से मानव की धन्य वृत्तियों या तत्त्वों की अन्विष्टता होती है। सुलक्ष्मी ने उसे भी काम्य

लोक के चन्तार्गत माना है। पशु-पक्षियों के सुख-दुःख इतने विषाद राग-द्वेष तोय-श्रोम कृपा श्लेष इत्यादि भावों की व्यञ्जना तो प्रत्यक्ष है। इनके प्रति रिक्त पैर-पीचे सता-गुस्म आदि भी इसी प्रकार कुछ भावों या तथ्यों की व्यञ्जना कर देते हैं। यह व्यञ्जना पर्याप्त बूढ़ रहनी है। काव्य में इन मार्मिक तथ्यों का उद्घाटन उपादेय होता है। इस सम्बन्ध में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि पशु-पक्षियों के विभिन्न कर्णों व व्यापारों पर तथा पैर-पीचे सता-गुस्म आदि जब पहाची क जगत् कर्णों व व्यापारों पर मानव भाव भावों का आरोप नहीं होना चाहिए। इसके विपरीत उनकी क्य चप्टा या परिस्थिति से सहज भाव से मार्मिक तथ्यों का अर्थ प्रकट होना चाहिए। उनका यह सिद्धांत है कि जहाँ तथ्य केवल आरोपित या सम्भावित रहते हैं वहाँ व अर्थकार क्य में ही रहते हैं। जहाँ तथ्यों का सामाज्य सहजभाव से मानवैतन् कृष्टि क कर्णों-व्यापारों से मिलता है वहाँ वे हमारे भावों के विषय वास्तव में बन सकते हैं। पुराने धर्मोक्तिकारों के तथ्यवचन ही नरक मर्मस्पर्शी हो गए हैं। इन धर्मोक्तिकारों ने मानव जीवन के साथ मानवैतन् कृष्टि की व्या-वैष्ट्याओं तथा परिस्थितियों की समता का उद्घाटन नहीं मर्मस्पर्शिता के साथ सम्पन्न किया है।

तमस्त आचार—यदि कवि अपनी कृष्टि नरकव तथा मानवैतन् साथ पर पुष्क-पुष्क रत्नकर काव्य-निर्माण करना है तो मुक्त जी की आत्मा के अनुसार उनकी कृष्टि सीमित है। इसके विपरीत यदि वह समष्टि क्य में समस्त जीवन लोक पर अपनी कृष्टि डालता है तो यह अपसाहठ धार्मिक व्यापक तथा गभीर होगी क्योंकि विच्छिन्न कृष्टि की ध्येया समष्टि कृष्टि में धार्मिक व्यापकता और गम्भीरता रहनी है। कवि को अपनी भावना का प्रसार इतना विस्तीर्ण और व्यापक बना लेना चाहिए कि वह अन्त व्यक्त सत्ताके भीतर नर-जना के स्थान का अनुभव करे और अपनी पार्थस्य बुद्धि का परिहार करे। ठीकी स्थिति में कवि का हृदय उच्चभूमि पर पहुँच कर प्रयाग एवं गम्भीर हो जाता है।

सामाजिक सम्बन्ध—काव्य में अन्त या जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली

प्रकार की मानविक दशाओं को एक ही म गित दिया है। इसी प्रकार भाषात्मक साहित्यशास्त्रियों ने भी प्रत्येक भाषा की इस स्वायी दशा का स्पष्टतः नामकरण नहीं किया है और हीन दशा का भी पृथक् निरूपण नहीं किया है।

साहित्यशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित नौ स्वायी भाषों में से हाम उत्पाह घोर निबंद को छात्रर रोप सब भाष साधुनिक मनोबिज्ञानियों ने भी मूल भाष रूप से स्वीकार किया है। शुक्लजी ने भी निबंद का समान रूप कहा है और उस पर स्वायी भाष के रूप में विचार नहीं किया है। उनके कहने के अनुसार वेप घाठ भाषों पर भी प्राचीन शास्त्रीय मशज केवम 'रति' को छोड़कर क्रोध घादि अन्य भाषों पर नहीं बटता। साधुओं ने इन्हें स्वायी भाष केवम इसी आधार पर कहा है क्योंकि यह भाष एक घबसर पर इस प्राधिपत्य के साथ बने उतन है कि उनक उपस्थिति काल में अन्य भाष प्रपवा मनावग उनक शासन के भीतर प्रकट होत है और व य्यों के त्यो बने रहते हैं। स्वायित्व का दूसरा बिह्न कि भाष बोध के रूप में विद्यमान भाष के काव्य भिन्न-भिन्न घबसगों पर भिन्न-भिन्न भाष प्रकट होत रहे रति को छोड़कर साधुओं के अन्य स्वायी भाषों में परिमलिन नहीं होता है। शुक्लजी की दृष्टि म रति भाष ही ऐसा है जा साधुनिक मनोबिज्ञान की दृष्टि से तथा प्राचीन साहित्यशास्त्रियों की दृष्टि म स्वायी कहता मकता है। इस रति के सम्बन्ध में भी उनकी बारावा यह है कि स्वायी भाष क रूप में बिन 'रति' का उपनम किया गया है वह वास्तव में कोई एक भाष नहीं बिनही कोई विशेष अनुमुनि बिनी एक घबसर पर होती हो। यह तो एक प्रकार म भाषदोग है बिमो मूल भाष की स्वायी दशा है बिमवा पबिक परिष्कृत रूप में हाम के वारन पृथक नामकरण कर दिया गया है। उन्हे 'रति' भाष बाग का मूल संस्वारक भाष 'राय' या 'मोम' स्वीकार किया है। इस प्रकार उन्हेने स्वायी दशा के रूप में साधुओं द्वारा प्रतिपादित स्वायी भाषों में से केवम रति को ही स्वीकार किया है। अन्य साठ स्वायी भाषों को मूलभाषों के रूप में स्वीकार करके उनकी स्वायी दशाओं

को पुनः निर्दिष्ट कर दिया है। उनकी चारणा के अनुसार प्रत्येक भाव की स्थायी रथा नीचे लिखी जाती है—

भाव	स्थायी रथा	भाव	स्थायी रथा
राग	रति	त्रास	वैर
हास	×	मय	धामंजा
धारण्य	×	मुनुष्या	विरति
लोक	मुगाप		

उक्त भावों की स्थायीरथा इनकी स्फुट नहीं होती कि उसके अस्तित्व की ओर ध्यान स्वयं चला जाए। जिस प्रकार रति वैर और विरति नाम की स्थायी रथाएँ परिस्पृष्ट हैं और धरने मूल भावों से कुछ विविष्ट प्रतीत होती हैं उन्ही प्रकार मय चार नहीं है। अतएव मनोविज्ञानियों तथा आचार्यों द्वारा इनके नाम निर्दिष्ट नहीं हुए हैं। लोक और मय की स्थायी रथाओं का संबंध 'संताप' तथा 'धामंजा' के नाम से मुक्तजी न कर दिया है वरन् मु हास और धारण्य को 'धरमिधेय' कहकर परिनिष्ठ ही रहन दिया है।

'उत्साह' के सम्बन्ध में मुक्तजी की चारणा है कि उसकी धर्म भावों के समान किसी एक धामम्बन के प्रति स्थायी रथा नहीं हो सकती। क्योंकि किसी कर्म के सम्पादन में धामम्बपूर्व उद्योग का नाम उत्साह होता है अतः किसी एक कर्म की विद्यमानता एक अवसर के धार्ये नहीं हो सकती। उत्साह के एक अवसर के उपरान्त दूसरे अवसर पर कर्म भी पुनरा हो जाता। अतएव उत्साह की अनेकावसर ध्यायी स्थायित्व होने पर, लोभ रथा तो हो सकती स्थायी रथा नहीं। उत्साह में धामम्बन और लक्ष्य स्थिर और परिस्पृष्ट नहीं होते इसीसे मनोविज्ञानियों ने इस प्रधान भावों की विद्यमानता में नहीं रखा है। मुक्तजी ने 'मय' प्रधान भावों में तो स्थान दिया है वरन् आदिवाचार्यों के अनुसार प्रतिमूल धारणा और रथाभाव का उत्साह का धामम्बन नहीं माना है। उनकी चारणा है कि उत्साह का लोभ तथा लक्ष्य किसी व्यक्ति या वस्तु के नाम नहीं होता अतएव उत्साह के प्रति धामम्बन हो सकते हैं या कुछ धाम तथा रथा के कर्म ही हो सकते हैं। इस सम्बन्ध

में मुक्ताबी की उक्ति बिशेष उल्लेखनीय है—

“मात्र धातुम्बन् प्रधान होता है, इसके प्रतिरिक्त प्रत्येक मात्र एक ही धातुम्बन् के प्रति स्थायी रत्ना को प्राप्त हो सकता है जबकि ये बातें उत्साह में नहीं घूमतीं ता बहुत मन का बेग मात्र है। फिर भी पाषाणों ने उसे प्रथम भाषों की भाँती में केवल इतीमिष्ट रखा है क्योंकि धातुय या पात्र में उसकी व्यंजना द्वारा जोड़ा या दमक को ऐसा विविक्त रसानुभव होता है जो और रसों के समकक्ष है।”

मुक्ताबी ने पाठों प्रधान भाषों की शील रत्नाओं के नामों का स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया है। प्रत्येक मात्र की शील रत्ना निम्नलिखित रूप से निर्दिष्ट की गई है—

मात्र	शील रत्ना	मात्र	शील रत्ना
राम	स्नेहशीलता रमिकता	मोक्ष	विमलता
	सोम सुष्वा लंपटता	बोध	बोधशीलता उद्वता विद्विबिद्वान्त
हास	हंसोद्वल, विमोदशीलता	भय	भीरता
उत्साह	वीरता, तत्परता	सुष्वा	सुसुक्ष्मिमात्री
धारण्य	शीलस्तर		

पुत्राबो शील रत्नाओं के समूह को बहुत बड़ा मानते हैं। उनकी धारणा है कि धातुम्बन् प्रधान मुख्य भाषों में ही शील रत्ना की प्रतिष्ठा नहीं होती मात्र रत्ना तक न पहुँचने वाले मन के बसों और प्रवृत्तियों के विराम्याम में भी विमल-विमल शील रत्नाएँ मनुष्य की प्रवृत्ति में प्रतिष्ठित होती हैं जैसे धातुय में धातुमयन मज्जा न मज्जाशीलता प्रवृत्त्या में बुगल का स्वभाव समुदा में दीर्घानु प्रवृत्ति इत्यादि।

भाषों का वर्गीकरण—मात्र में अनुवृत्ति विधी रहती है। यह अनुवृत्ति का प्रकार भी होती है—सुखात्मक और दुःखात्मक। इनकी अनुवृत्ति के आधार पर उन्नीसे भाषों के दो वर्ग किये हैं।—श्रम उत्साह घटा शक्ति शीघ्ररूप एवं धादि सुखात्मक मात्र है। मोक्ष बोध भय सुष्वा मज्जा

उपरोक्त धर्मों में धर्मों का विचार इत्यादि बुद्धिमानक भाव है। मुसलमानी ने 'धर्म' को मुसल-मुसल लोगों से उदासीन नहीं माना है अपितु उसे मुसलमानी ही स्वीकार किया है। भारतीय धर्मों ने भी धर्म को प्रकृत रस का नशाही भाव माना है और धार्मिक मनोविज्ञानी धर्म भी यही बात मानता है। धर्म का कर्म है कि धर्म में प्रकृत वस्तु पर ध्यान लगता है वह उदासीन नहीं होता।

उपरोक्त धर्मों के प्रमुखता देते हुए मुसलमानी ने भारतीय धर्मों के द्वारा प्रतिपादित स्वामी-सहायी-सम्बन्ध की समीक्षा की है। धार्मिक मनोविज्ञानियों ने धर्म भय धर्म और धर्म को मूल भाव कहा है। इनमें से साहित्य के स्वामी भावों की विनती में धर्म को छोड़ सब भाव हैं। मुसलमानी ने धर्म के न रस भावों का कारण स्पष्ट करते हुए लिखा है क्योंकि साहित्यिकों का साधन भाव विनयन रस-विधान की दृष्टि से हुआ है, प्रत्यक्ष धर्म को रस के प्रधान प्रवर्धक भावों में स्थान नहीं दिया जा सकता है। किसी के धर्म में धर्म देने के लिए मनुष्य भाव का हृदय प्रकृति द्वारा विद्यमान है परन्तु धर्म में वह बात नहीं है। इसी प्रकार ईश्वर मनो विज्ञान की दृष्टि से विषयोन्मुख होने के कारण भाव (स्वामी) कोटि में विना जा सकता है, परन्तु धर्मों ने इन भी स्वामी नहीं माना है। धर्मों ने उन्हीं भावों को स्वामी भाव के रूप में माना है जो स्थिति होकर रस रूप हो सकते हैं अर्थात् धर्म-संबन्ध हो सकते हैं। मुसलमानी कहते हैं कि धर्मों के स्वयं के भीतर वह वस्तु है जिसके अनुसार प्रधान और सहायी का विधान हो जाता है। वह वस्तु है—धर्मभाव। प्रधान भावों की विनती में वे ही भाव रस रूप हैं जिसके धर्मभाव 'धर्म' हो सकते हैं। धर्म भाव या मनोवैक्य सहायियों की धर्मों में धर्म रूप हैं क्योंकि इनमें से किसी-किसी के ही स्वयं विषय होने तो भी धर्म या धर्म का ध्यान उनकी ओर प्रवृत्त नहीं होगा। प्रधान या स्वामी रूप से परिचित भाव ही ऐसी वस्तु को कहेंगे हैं जिसमें धर्म या धर्म भी धर्म (भाव) में उनकी विषय धर्मभाव धर्म का धर्म हृदय में करने लगते हैं और धर्मरूप

धनुमास प्रकट करने मगते हैं ।

इसके अनिश्चित धुक्कजी ने भारतीय स्वामी-संचारी व्यवस्था के रहस्य को भी स्पष्ट करने का यत्न किया है । मनोविज्ञानी भी एक भाव के साथ धर्म भावों का सम्बन्ध स्वीकार करते हैं । यह कहा जा चुका है कि दैव्य प्रत्येक भाव को एक प्रकार का व्यवस्था-बन्ध मानते हैं, क्योंकि इसके साथ धर्म भावों का सम्बन्ध सम्बन्ध रूप से लगा होता है । भारतीय स्वामी-संचारी व्यवस्था इस तथ्य का विरोध नहीं करती । वह भी एक प्रकार की सम्बन्ध-व्यवस्था ही है । दोनों में अंतर यह है कि मनोवैज्ञानिकों की सम्बन्ध-व्यवस्था के अनुसार मूल भाव स्वप्रवर्तित धर्म भाव के प्रतीति काल में धरना स्वरूप विद्यमान कर देता है परन्तु साहित्यिकों की व्यवस्था के अनुसार मूल प्रवर्तक भाव का धामास प्रवर्तित भाव की प्रतीति काल में रति बना रहता है । जैसे रति के जो संचारी कहे गए हैं उनके प्रतीति काल में रति का धामास बना रहेगा । धुक्कजी इनीलिए इन व्यवस्था को अधिकार-व्यवस्था कहते हैं । यह स्पष्ट है कि वे भी मनोवैज्ञानिकों के धनु रूप संचारी भावों का सम्बन्ध भाव के रूप में ही देखते हैं ।

भारतीय धामासों ने संचारियों का गौण तथा स्वामी भावों को प्रधान भाव के रूप में परिगणित किया है । किसी भाव को प्रधानता सभी दिन तकनी है जब उसका धामास मूल ही परन्तु ऐसा भी प्रायः होता है कि किसी प्रधान भाव से सम्बन्ध गौण भाव का विषय प्रधान भाव के धामास से मिले होता है । उक्त व्यवस्था में यदि धामास का ध्यान मुख्यतः प्रधान भाव के धामास की ओर रहता है तो वह सम्बन्ध भाव साहित्यिक परिभाषा में संचारी कहलाएगा और उनका विषय धामास नहीं कहला सकता है । इस प्रकार प्रधान भाव का धामास स्थिर रहता है । सम्बन्ध भावों का विषय स्थिरता से सम्बन्ध नहीं रहता है । अतएव वे धीमे कहलाते हैं । भारतीय धामासों ने उन भावों को प्रधानता देकर स्वामी भावों में परिगणित कर दिया है जिन भावों का धामास इस प्रकार अधिकतर रह सकता है । इन स्वामी भावों से सम्बन्ध होकर धामे धर्म भावों को संचारी भाव कह

दिखा गया है, क्योंकि उनके व्यापित्य में इनकी प्रतीति होने के कारण उनके सामान्य पृथक् अस्तित्व या व्यापित्य प्राप्त नहीं कर पाते । वे तो अपने प्रचलक भाव को पुष्ट करने वाले होते हैं और अपने प्रतीतिभाव में भी अपने अन्तर्गत भाव के सामान्य से व्याप्य का ध्यान नहीं हटाते । सारांश यह है कि सुकनजी का अस्तित्व बही है कि किसी भाव को पुष्ट करने वाला मनोविकार ही संचारी हो सकता है और पुष्ट करने वाला मनोविकार बही होना जो भाव के अन्तर्गत और प्रकृति में हटाने वाला न होना । किसी मनोविकार को संचारी भाव मानने से पूर्व तीन बातों का ध्यान रखना अपेक्षित होता है—

१. उसका विषय बही हो जो प्रधान भाव का सामान्य है और उसकी कोई प्रवृत्ति या प्रकृति न हो ।

२. जब प्रधान भाव के सामान्य में उसका विषय भिन्न हो तो उसकी प्रवृत्ति या प्रकृति न हो और वह स्वयं ऐसा हो कि प्रधान भाव के साथ उसका कोई सम्पर्क न हो ।

३. जब उसकी प्रकृति या प्रवृत्ति बही हो जो प्रधान भाव की है ।

इसी आधार पर सुकनजी कहते हैं कि स्वाधी भावों में परिवर्तित एक भाव भी दूसरे प्रधान भाव का संचारी होकर या सकता है । जैसे रति और उत्साह में हानि सुकनसाह में क्रोध । इसी प्रकार हास और आश्चर्य प्रवृत्ति स्वयं प्रवृत्ति या प्रकृति न होने के कारण गृहकार के संचारी होकर या सकते हैं ।

स्वाधी और संचारी का एक बीच प्रश्न भी लिया जा सकता है । किसी काव्य या नाटक में यदि मैं अन्त तक जो भाव विद्यमान रहे बीच-बीच में अन्य भावों के व्यञ्जित होते रहने पर वह निरन्तर सम्पन्नचित्त रूप से मनकता रहे तो उसे स्वाधी भाव कहा जा सकता है । इसी प्रकार विभिन्न भावों की सम्मिश्रण बीच-बीच में व्यञ्जित रूप में होनी रहेगी और अन्त में प्रधान भाव के प्रसार में कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी वे संचारी कहला सकेंगे । स्वाधी संचारी की यह व्याख्या बीच ही बानी आयी ।

संचारियों के भेद तथा वर्गीकरण—सुकनजी ने संचारियों के भेद तथा वर्गीकरण पर भी अपनी धारणाओं को स्पष्ट किया है। भारतीय भाषाओं में गैलीस संचारी माने हैं। वे इनको उपसमाय मान सकते हैं। वे कहते हैं कि संचारी घोर भी हो सकते हैं। उन्होंने उन्नामीसंचारी परिगणित किये हैं। इन उन्नामीसंचारियों के उन्होंने विराय-प्रविरोध के विचार से चार भेद—सुखात्मक दुःखात्मक उभयात्मक घोर उदासीन प्रतिपादित किये हैं। सुखात्मक भावों के साथ दुःखात्मक संचारी दुःखात्मक भावों के साथ सुखात्मक संचारी विरोध संचारी कहकार्षे इसी प्रकार सुखात्मक भावों के साथ सुखात्मक घोर दुःखात्मक भावों के साथ दुःखात्मक संचारी प्रविरोधी होंगे। सुखात्मक घोर दुःखात्मक दोनों प्रकार के भावों के साथ घाने वाले संचारी उभयात्मक घोर तटस्पता एवं निरपेक्षता से घाने वाले संचारी उदासीन माने जायेंगे।

भावों का परस्पर यह विरोध घातव्यता या विषयगत विरोध नहीं है अपितु जाणियत विरोध ही है क्योंकि घातव्यता या विषयगत विरोध होने पर कोई भाव संचारी बन ही नहीं सकता है। जैसे शोक के घातव्यता के प्रति शीत-शोक में त्राम या दवा का प्रकषण नहीं हो सकता है। सुखात्मक भाव के साथ विजातीय दुःखात्मक भाव तो संचारी रूप में घा सकता है, परन्तु घातव्यता विरोध होने पर—जैसे शोक का घातव्यता घोर दया का घातव्यता परस्पर विरोधी है—संचारी व्यवस्था सिद्ध नहीं हो सकती।

उन्नामीसंचारियों को निम्नलिखित रूप से चार भेदों में सुकनजी ने विभक्त किया है—

सुखात्मक	दुःखात्मक	उभयात्मक	उदासीन
वर्ष धीम्पुत्र	नरका धमूबा	घातव्य स्मृति	वितक मति धन
हर्ष घाता मर	धर्म धवहित्वा	विस्मृति ईष्य	विश विबोध
सन्तोष जनना	त्राय विपाद	जहना स्वप्न	
सुखता पव	घना विना	निर्द	

दिया गया है, क्योंकि उनके धारिण्य में हमारी प्रवृत्ति होने के कारण उनके धारम्वन वृषक धारिण्य या स्वाधित्य प्राप्त नहीं कर पाते। वे तो अपने प्रवर्तक भाव को पुष्ट करने वाले होते हैं और अपने प्रवृत्तिकाम में भी अपने जनक भाव के धारम्वन से धारण्य का ध्यान नहीं हटाते। तात्पर्य यह है कि बुद्धजी का मन्तव्य यही है कि किसी भाव को पुष्ट करने वाला मनोविकार ही संचारी हो सकता है और पुष्ट करने वाला मनोविकार नहीं होगा जो भाव के सत्त्व और प्रकृति से हटाने वाला न होया। किसी मनोविकार को संचारी भाव मानने से पूर्व तीन बातों का ध्यान रखना अपेक्षित होता है—

१. उसका विषय बही हो जो प्रधान भाव का धारम्वन है और उसका कोई अपनी मति या प्रकृति न हो।

२. जब प्रधान भाव के धारम्वन से उसका विषय भिन्न हो तो उसकी अपनी मति या प्रकृति न हो और वह स्वयं ऐसा हो कि प्रधान भाव के साथ उसका कोई क्पात्तर नवा रहता हो।

३. जब उसकी मति या प्रकृति बही हो जो प्रधान भाव की है।

इसी धारार पर बुद्धजी कहते हैं कि स्वाधी भावों से परिगणित एक भाव भी दूसरे प्रधान भाव का संचारी होकर या सकता है। जैसे रति और जलाह में हास बुद्धोत्साह में श्लेष। इसी प्रकार हास और धारस्वर्ध धारणी स्वगन्ध मति या प्रकृति न होने के कारण गुंवार के संचारी होकर या सकते हैं।

स्वाधी और संचारी का एक ही धर्म भी लिया जा सकता है। किसी धार्य या ताटक में धारि से धर्य तक जो भाव विद्यमान रहे, बीच-बीच में धर्य भावों के धरिण्य होते रहने पर वह निरन्तर धर्यवर्धित रूप से भ्रमकता रहे तो उसे स्वाधी भाव कहा जा सकता है। इसी प्रकार जिन भावों की धर्यता बीच-बीच में धरिण्य रूप में होनी रहेगी और उनमें प्रधान भाव के प्रसार से कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी वे संचारी कहला सकते हैं। स्वाधी संचारी की यह धर्यता ही मानी जाएगी।

मोह धनसता
उन्माद धनस्तोष
भ्रान्ति धनस्मार,
मरण व्याधि

उक्त सूची का यदि प्राचीन तैत्तिरीय संचारियों के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो यह पता चलेगा कि इस सूची में तैत्तिरीय पुराने संचारी ग्रहण करके उन्होंने यह संचारियों का निर्बंधन किया है। धासा नैरास्य सन्तोष धनस्तोष विस्मृति धीर मूढमता में उनके द्वारा प्रतिपादित नए संचारी हैं। वे कहते हैं कि इन संचारियों में स्वतन्त्र विषययुक्त धीर नरक युक्त मनोविकार धीर मन में क्षणिक वेदों के साथ मानसिक तथा धारीरिक व्यवस्थाएँ और धन्य करण की धन्यवृत्तियाँ भी सम्मिश्रित कर ली गई हैं। इसी कारण के आधार पर उन्होंने संचारियों के बीच बर्ष निर्दिष्ट किये हैं—

‘संचारियों का वर्गीकरण’

स्वतन्त्र विषय युक्त भाव	मन के वेद	धन्य धन्य करण वृत्ति	मानसिक धन्यता	धारीरिक धन्यता
बर्ष लज्जा धन्यता	धावेय धन्यर्ष	धका स्मृति मति चिन्ता,	दैन्य बर	धन धन
	धनहित्वा	वितर्क धाधा	जड़ता लज्जा	स्मार, मरण
	धीलुक्त भाव	नैरास्य	मोह, स्वप्न	विज्ञा विबोध,
	हृष विपाद	विस्मृति	धनसता	व्याधि
			उन्माद सन्तोष	
			धन्यता निर्बंध	
			मूढमता धेयं	
			धनस्तोष	
			भ्रान्ति	

स्वतन्त्र विषययुक्त भाव—बर्ष लज्जा तथा धन्यता में स्वतन्त्र विषय भावे मनोविकार हैं परन्तु इनके विषय धान्यजन नहीं कहना सकते क्योंकि

सृष्टि काम में इनके विषयों की ओर उठना ध्यान नहीं जाता जितना इनके
 तरणों की ओर रहता है। भाष्य का ध्यान तो विषय पर बोझ-बहुत रहना
 परन्तु साहित्य वर्णन में भोला या पतक का ध्यान कुछ भी नहीं रहता।
 ये मन्त्रा के वर्णन में उसके कारण सुराई की ओर धोना या पतक का
 शान होना उसके विषय वचन व्यक्ति की ओर नहीं आयेगा जिसे सामने
 कर सामने मन्त्रा की अनुभूति कर रहा है। इसका प्रतिरिक्त यत्र और
 मन्त्रा के कारण विषय में नहीं रहते परन्तु स्वयं धामस म रहते हैं। इसी
 प्रकार वर मनोविज्ञानियों ने जब जो यत्न (Selflove) रूप में मान
 र स्थायी भाव बना दिया है। मुसलमी की व्यवस्था के अनुसार यत्र धीत
 या को ही प्राप्त पाया जाता है।

मन के दोष—संघारियों का दूसरा वचन मनावेगों का है। उसमें धर्म
 धर्म्य अविज्ञाना धीतुधम नाम हर्ष विषय घाते हैं। य मूल भाषा के
 अर्थव मात्र ही धीर धामम्बन-निरपल है। ये धर्मिकतर किसी भाव के
 तरण उत्पन्न होकर उसी के मन्तर्गत उद्भूत धीर विभीन होते हैं। मुसल
 मी की धारणा है कि धर्म्य रूप नाम धीर विषय मन्त्रा जोष राय
 म धीर लोके के वेगकप अर्थव है। साहित्याचार्यों ने इनकी स्वतन्त्र
 मन्त्रिधर्मि देखकर इन्हें भी संघारियों म गिन लिया है। मूल भाषा तथा
 इनके अर्थवों के अनुभाषा को पृथक किया जा सकता है। यह कहा जा
 सकता है कि अर्थवों के उदय काल के अनुभाषा तो सात्त्विक होंगे धीर
 भाव के उदय हो जाने पर अनुभाषा काविक रूप होंगे। संघारी रूप में इन
 अर्थवों के जो बाह्य बिन्दु साम्यगारण म बधित हैं वे एक प्रकार म जोष
 धारि मूल भाषा के ही हैं।

अन्त कारण कृतियाँ—तीसरे वर्ण के स्मृति विज्ञान जिनके प्रति
 धारि संघारी मन के दोष नहीं है धर्मिनु धारणा-बुद्धि क व्यापार है। मुसल
 मी का सिद्धान्त यह है कि इनका अन्त मात्र धर्मिनु हार्ण की धर्मिनि में ही हो
 सकता है। जब इनका प्ररक भाव प्रपान रूप म अनु हाया लब धोना धारि
 ना ध्यान भाव पर रहता बुद्धि क उक्त व्यापारों के विधरणों पर नहीं।

सम्यक्-करण की ये वृत्तियाँ यदि काष्ण में व्यञ्जित मान की सूता के भीतर दिखाई पड़ेंगी तो वे काष्ण के लिए उपयोगी मानी जाएँगी ।

दूसरी बात इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखने के शीघ्र है कि बारम्बार बुद्धि के ये व्यापार मान की स्वाधी दशा में ही होते हैं । मान दशा में प्रथम स्मृति चिन्ता विठकं मति के चारों वृत्तियाँ यदि सञ्चारी होकर घाएँगी तो जोष की भावदशा में वही अपितु और नामक उसकी स्वाधी दशा में ही घाएँगी । इस वर्ण के संचारिकों में घाता नीरास्य घोर विस्मृत ये तीन नए सञ्चारी सुसमजी हाग निदिष्ट किये गए हैं । उनका कथन है कि जब अय-नेष मुक्त ऋदा को 'मका' नाम में सञ्चारी माना गया है तो हर्ष-नेष मुक्त ऋदा 'भासा' घोर विपाद-नेष मुक्त ऋदा नीरास्य को भी सञ्चारी माना जा सकता है । इसी प्रकार स्मृति के अनुसूप विस्मृति को भी सञ्चारी मानना चाहिए ।

नासतिक अवस्था—संचारियों के चौथे वर्ण में ईश्वर भव, लड़ता लड़ता मोह स्वप्न धनसना उन्माद सन्तोष अपमत्ता निर्वेद ब्रह्मता ईश्वर सन्तोष स्तानि ये नासतिक अवस्थाएँ घाटी हैं । वे दो प्रकार की होती हैं—प्रकृतियत घोर धामन्तुक । नासतिक अवस्थाओं के मूल में बाव ही कारण होते हैं । जब किसी ज्ञान के कारण उत्पन्न होने वाली कोई नासतिक अवस्था घापय में प्रकृतियत हो जाती है तब वह अपने अभिव्यक्ति काल में अपने मूल भाव से स्वतन्त्र परिलक्षित होने लगती है । इस प्रकार की प्रकृतियत नासतिक अवस्था को सञ्चारी रूप में पहचान नहीं किया जा सकता है । ही प्रकृतियत अवस्थाएँ चरित्र-चित्रण की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण होती हैं घोर इनको मान्य ये कीम दशा में देखकर मोटा न वर्षक के सम्यक्-करण में प्रवृत्ति और निवृत्ति की उत्तेजना उत्पन्न हो सकती है । प्रकृतियत धामन्तुक रूप में ही ये अवस्थाएँ सञ्चारी मानी जाएँगी क्योंकि इसी रूप में उनका किसी भाव के कारण प्रकट होना स्पष्ट रहता है । सुसमजी कहते हैं कि जासों के प्रत्यक्ष सम्बन्ध से संचारियों के रूप में इन नासतिक अवस्थाओं की वही अभिव्यक्ति होती है वही उनमें प्रथम भावों के प्रभाव से बहुत कुछ वेग पा जाना है । अति बल के कारण ईश्वर प्रकल हो जाता । ऐसे स्वप्न

पर ध्यान प्रधानतः मन की ओर ही रूढ़ा है अन्य की ओर नहीं।

'मन' के सम्बन्ध में युक्तजी का ध्यान उसके 'गर्भ' व संचारी रूप पर भी गया है। सामान्यतः साहित्य में 'रति' के संचारी रूप में ही 'मन' के उदाहरण मिलते हैं।

मानसिक स्तम्भ को ही 'अज्ञता' के नाम से संचारियों में स्थान दिया जा सकता है। शारीरिक स्तर से तो सात्विक अनुभाव मान है। मानसिक अवस्थाएँ सूक्ष्म होती हैं अनुभाव सूक्ष्म होते हैं। मन 'अज्ञता' से शारीरिक स्तम्भ का गर्भ संचारियों के प्रसंग में नहीं लिया जा सकता है। युक्तजी ने 'अज्ञता' के इसके रूप 'बुद्धिमान्ध' की जन्म की है परन्तु उसकी धीम दत्ता को ही काव्य के लिए उपयोग माना है। उस रूप में वह 'हास्य' के घातम्भन की रूप योजना में उपन्येय स्थिति दिया जा सकता है।

मानसिक अवस्थाओं में युक्तजी ने उदत्ता के सादृश्य पर मुद्रुमता नामक गया संचारी माना है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार 'उदत्ता' से जोष भय या विषाद का संचार किया जाता है उसी प्रकार मुद्रुमता का व्यवहार किया जाता है उसके हृदय में व्यवहार करने बात के प्रति भ्रष्टा-भक्ति का संचार होता है। उनकी धारणा के अनुसार शृंगार और करुणा रसों में मुद्रुमता संचारी होकर जा सकती है। प्रिय और मयूर वचन इनके अनुभाव हो सकते हैं।

'स्वप्न' संचारी के सम्बन्ध में युक्तजी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि रति काय मन इत्यादि में केवल रती का स्वप्न से बचना संचारी होगा जिससे रति या मन ही धमका जिस पर जोष हो धर्मान् स्वप्न का धमका कोई स्वप्न विषय प्रमाण मान के धामम्भन में भिन्न नहीं हो सकता है।

'धममता' संचारी का शास्त्रीय लक्षण युक्तजी की दृष्टि में टीक नहीं क्योंकि संचारी का मान के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध—गोषा मगाव—धमम्भन धमम्भन है। शारीरिक या मानसिक क्रिया से उत्पन्न न होने की प्रकृति की धमम्भना का नाम ही धममता है। इसका मूल कारण शारीरिक या मानसिक धम ही हो सकता है। युक्तजी की धारणा है कि जिस क्रिया या धमकार

ऐ धारीरिक धम हुआ है उसे लौ भाव प्रेरित या भाव का धम माना जा सकता है परन्तु धम को धीरे उगमे उत्पन्न होने वाले धातुत्व को भाव प्रेरित सञ्चारी नहीं कहा जा सकता है। अतः उतकी दृष्टि में धातुत्व को श्रुदार धीरे हास्य का सञ्चारी मानना ठीक नहीं उसे स्वतन्त्र मानना चाहिए।

प्यानि का प्राचीन साहित्यिक सञ्चय भी धुसनी की दृष्टि में ठीक नहीं है। इसमें परिधम मूक प्याम धादि से उत्पन्न धारीरिक सैबिस्व को भी 'प्यानि' का सञ्चय कहा गया है। वास्तव में किसी धातु के धेय के कारण जो माननिक सैबिस्व होता है उसे ही 'गर्भाति' कहा जा चाहिए। इस लिए वे कुछ धीरे मनस्वाय से उत्पन्न धिबिमतता को ही सञ्चारी स्वीकार करना चाहते हैं। इसी कारण उन्होंने 'प्यानि' को धारीरिक धवस्था में न रखकर माननिक धवस्था में रखा है।

इसी प्रकार 'धृति' का लक्षण भी उन्हें धस्पष्ट प्रतीत हुआ है। साहित्य धर्षध के सञ्चय के धनुसार सन्तोप का दृष्टि ही का नाम 'धृति' प्रतीत होता है। अतः स्पष्टता के लिए उन्होंने धृति के स्थान पर 'धैर्य' सञ्चारी माना है। हिन्दी के धाधाधों में भी इसी रूप में 'धृति' को धहण किया है। प्राचीन साहित्य मान्त्रों में नामरु के धुनों में 'धैर्य' का भी लक्षण किया गया है। सुसनी उसी धर्षध को धेरु 'धैर्य' का सञ्चारी मानते हैं। धीरे रस में 'धैर्य' सञ्चारी होकर धा सकता है। वे धैर्य के समान 'धधैर्य' को भी सञ्चारी मानने का धकेन करते हैं धीरे समझते हैं कि काम्य में 'धधैर्य' के भी उत्तम उदाहरण लिल मरते हैं।

'सन्तोप' को धूक सञ्चारी माना गया है। इष्ट की प्राप्ति से इष्ट की धुनि के धनुसध को 'मनाप' माना जा सकता है। सुसनी उत्तम ज्ञान से प्राप्त सन्तोप को सञ्चारी नहीं मानना चाहते हैं। वे सन्तोप के साधुस्य से 'धमसन्तोप' को भी सञ्चारी मानने के वल में हैं धीरे काम्य से उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं। श्रुदार में यह धमसन्तोप सञ्चारी विधेय रोधक धन में धनित किया जा सकता है।

पारसीरिक्त व्यवस्था—संचारियों का पौषधीय वर्ष यम व्यवस्था मरण निद्रा विबोध तथा व्याधि नामक पारसीरिक्त व्यवस्थाओं का है। पारसीरिक्त व्यवस्थाएँ प्राकृतिक कारणों से भी उपस्थित हो सकती हैं। साहित्य में केवल ऐसी ही पारसीरिक्त व्यवस्थाओं को संचारी रूप में ग्रहण किया जा सकता है जो भाव के प्रभाव से उपस्थित हुई हो।

पुस्तकी में 'यम' का अर्थ व्यापाराधिक्य या किसी क्रिया का निरन्तर आधेन ही लिया है और इसी अर्थ में यम को संचारियों में लिया है। साहित्य दर्शन के सभाग के अनुसार 'यम का अर्थ व्यापाराधिक्य या किसी क्रिया के निरन्तर आधेन में उत्पन्न अंग-गतानि का अकाशट सिद्धा है। के सामान्यतः इस प्रकार से उत्पन्न अंग गतानि को संचारी नहीं मानना चाहते। वे तो केवल उसी अंग गतानि को संचारी कहते हैं जिसका भाव के साथ सीधा सम्बन्ध हो। काविक अनुभाव पारसीरिक्त क्रिया या व्यापार के रूप में ही होते हैं और वे अनुभाव भी भाव के अंग रूप मात्रे आते हैं अतः उनसे उत्पन्न 'अंग गतानि' को संचारी के अन्तर्गत कहा जा सकता है। जैसे बार-बार के धामिमत से अम्ब चालन से उत्पन्न अकाशट। इस सम्बन्ध में विषय उल्लेखनीय बात यह है कि भाव की स्थायी रूपा में मार्ग में चलना आदि जो प्रयत्न किए जायें उनसे उत्पन्न यम गतानि संचारी नहीं होती। हाँ इसका स्वतन्त्र वर्धन सौकुमार्य आदि का मुख्य होकर रोचक बन सकता है।

'निद्रा' 'विबोध' अधिकतर पारसीरिक्त के रूप में ही दिखाई पड़ने हैं इसी में इन्हें विशेषतया पारसीरिक्त व्यवस्थाओं में परिचित किया गया है। वह ध्यान रहे कि निद्रा, विबोध मरण व्याधि व्यवस्था तथा संचारी हैं कि जब किसी भाव के कारण हमें आनंद महीं। संचारियों के सम्बन्ध में यह बात भी उल्लेखनीय है कि कभी-कभी के प्रभाव होकर भी आते हैं। वह प्रभावना दो प्रकार की हो सकती है—१ कभी प्रभाव भाव के स्फूर्त न होने में संचारी प्रभाव प्रतीत होते लक्ष्य है और कभी प्रभाव भाव के स्फूर्त होने पर वह उनके ऊपर प्रभाव रूप से प्रतीत होता है। २ कभी निद्रा प्रभाव भाव उभरा संचारी बनकर आता है। जैसे शीघ्र 'अमृता' का

संचारी होकर या सकता है, सुसूक्ता 'वर्ष' का ।

कोई भाव भवगी 'भाव वसा' में है या स्वाधी वसा में है इसका निर्णय भी संचारियों से हो जाता है । भाववसा में सुखात्मक भाव का संचारी सुखात्मक और दुःखात्मक का दुःखात्मक होना पर स्वाधी वसा में यह बात नहीं रहती । स्वाधी वसा प्राप्त हो जाने पर मूल भाव को संचारीय या विजातीय धर्म कोई भाव संचारी रूप में धाकर तिरोहित नहीं कर सकता है ।

धनुभाव—सुखसजीव भाव का जो लक्षण किया है उसके अनुसार धनुभाव भाव का ही एक रूप है । भाव का जो धप धाकृति या धावरण में अभिव्यक्त होता है और बाहर देखा जाता है वह धनुभाव कहलाता है । प्रत्येक भाव की धपनी प्रकृति होती है । धनुभाव द्वारा उसी प्रकृति का ज्ञान चलता है । धनुभावों के सम्बन्ध में यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि 'धनुभाव' भाव के ही रूप में धावते हैं भाव की स्वाधी वसा के नहीं धर्मात् यदि 'धनुभाव' प्रकट होने तो किसी भाव या उसके संचारी के प्रतीति काल में ही होते ।

प्राचीन साहित्यशास्त्रों की ही भाँति सुखसजीव ने भी काविक और सांख्यिक भेद से दो प्रकार के धनुभाव माने हैं और उनके लिए ऐच्छिक और अनैच्छिक धर्मों का प्रयोग किया है । इसी प्रकार शृंगार, हास्य करुणा रीति और भवानक बीमारस धर्मयुक्त धर्मों के धनुभाव भी सामान्यतः प्राचीन साहित्य धर्मों के आधार पर ही वर्णित किए हैं ।

विभाव—भाव को सुखसजीव धातुमन्त्र प्रमाण मानते हैं । उनके भाव लक्षण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भाव का एक धप यह है जो विषय-विषय के रूप में चेतना में रहता है और भाव का प्रकृत स्वरूप है । धातुमन्त्र की भावना इसी प्रकृत स्वरूप को प्रतिष्ठित करती है । इसीलिए धातुमन्त्र का काव्यगत वर्णन ही विभाव है । वे कहते हैं—'भाव से धनिप्राय संवेदना के स्वरूप की व्यञ्जना से है । विभाव से धनिप्राय उन वस्तुओं या विषयों के वर्णन से है जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या

संवेचना होती है ।

पुस्तकजी काव्य में विभाव को ही प्रमुखता प्रदान करते हैं और कहते हैं कि कवि-कर्म-विभाव के दो पक्ष होते हैं—विभाव और भावपद । कवि भावों के प्रकृत आधार या विषय का रूपता द्वारा पूर्ण और यथानुसंग प्रकृतीकरण करके ऐसी वस्तुओं का विभाव करता है जो मन में कोई भाव उठा द और उठे हुए भाव को और स्थिर करने में समर्थ हों । इस प्रकार वह अपने कर्म के विभाव पक्ष की प्रतिष्ठा कर लेता है । भाव पक्ष की प्रतिष्ठा के लिए उन बलिबस्तुओं के अनुसंग भावों के धनक स्वरूप दायों द्वारा व्यक्त करता है । उनकी दृष्टि में ये दोनों पक्ष अयोव्यापिन हैं । जहाँ एक ही पक्ष का वर्तन रहता है वहाँ भी दूसरा पक्ष अभ्यस्त रूप से रहता है ।

विभाव पक्ष के अन्तर्गत दो पक्ष होते हैं—१ आत्मजन (भाव का विषय) २ आशय (भाव का अनुभव करने वाला) प्रत्येक पक्ष में अलग अलग अर्थों के सभी पदार्थ या संकेत हैं अर्थात् मनुष्य से लेकर जीव-पक्ष बीज-जन्तु वृक्ष नदी पर्वत आदि पद प्रकृति के पदार्थ आत्मजन रूप से काव्य में ब्रह्मण्डल के वास्तविक हैं परन्तु दूसरे पक्ष में अर्थात् आशय के रूप में केवल अर्थ एवं हृदय-सम्बन्ध मनुष्य ही वास्तविक हैं । दोनों ही पक्षों का पूर्ण यथानुसंग स्वरूप प्रतिष्ठित करना अर्थात् विभावपक्ष कायना कवि का धर्मवर्तन कर्तव्य माना जाता है ।

प्राचीन आचार्यों ने यह प्राकृतिक पदार्थों को आत्मजन स्वीकार नहीं किया है । वे वन-उपवन जन्तु सौन्दर्य का वर्तन नामक निर्माण में उपमायी व्यवस्था मानते हैं, परन्तु केवल मायक-आविकारों का होने का रत्न के लिए अर्थात् उनके भावों को उद्दीप्त एवं उत्तेजित करने के लिए ही उनको के काव्य में स्थापित करना चाहते हैं । पुस्तकजी इस बात से सहमत नहीं है । वे कहते हैं कि प्राकृतिक पदार्थ केवल उद्दीप्त भाव नहीं है । वे केवल धर्म रूप ल ही हमारे भावों के आत्मजन नहीं है । वे स्वतन्त्र रूप से भी हमारे आत्मजन का मन्ते हैं । उनकी धारणा है कि प्राकृतिक दूरियों व पदार्थों के प्रति

मानव-हृदय में साहस्यर्ष के प्रभाव से प्रेम की भावना या संस्कार विद्यमान है। उनके वलन से या काव्य में उनके प्रदर्शन से मानव की भीतरी प्रकृति का अनुरजन होता है। इसमें कोई सम्भेद नहीं है। इस अनुरजन को केवल बुद्धि के धारण का परिणत या उत्तेजक कहना अपनी बड़ता का डिंडोर पीटना है। प्राचीन मन्त्रक कवियों ने जो संक्षिप्त चित्रण द्वारा प्राकृतिक पदार्थों का चित्रण करवाने का यत्न किया है वह केवल उद्दीपन भावना में नहीं किया है। उनके ये वर्णन ध्यातम्बन की परिस्थिति को व्यक्त करने वाले हैं। इनके बिना ध्यातय और ध्यातम्बन धूम्य में बड़ा मानस होते हैं।

धुक्मजी परिस्थिति को जीवन का ध्यातम्बन कहते हैं और परम्परा से वह मानव के भावों का ध्यातम्बन बन जाती है। इसी परिस्थिति में काव्य के पाठों को देखकर दर्शक व पाठक का अनुरजन होता है। ध्यातय यह स्पष्ट है कि प्राकृतिक पदार्थ किसी भाव के ध्यान बन कर भी आ सकते हैं और ध्यातम्बन रूप में ध्यातम्बन भी हो सकते हैं। धुक्मजी की धारणा के अनुसार बन पर्यंत नहीं निर्भर ध्यातय प्राकृतिक धूम्य हमारे रूप या रतिध्यातय के स्वतन्त्र ध्यातम्बन है। उनमें सहृदयों के लिए सहज ध्यातम्बन विद्यमान है। उनमें मानव की ध्यातय लिये उन्मील होती है। ध्यातम्बन भाव के विद्यत वर्णन से ध्यातय में आवातुनूति उत्पन्न की जा सकती है ध्यातय पाठक व ध्यातय में कवि के ध्यातम्बन में विद्यमान प्रकृति प्रेम का इस वर्णन के द्वारा ध्यातय हृदय में संवर्धित होता अनुरजन कर सकते हैं। ध्यातय उन्हें ध्यातम्बन रूप में स्वीकार करने में कोई ध्यातय नहीं होनी चाहिए।

विभाष का धुक्म में उद्दीपन होता है। धुक्मजी इसके दो ध्यातय हैं—एक ध्यातम्बनवत और दूसरा ध्यातम्बन बाह्य। ध्यातम्बन की ध्यातय ध्यातम्बनवत उद्दीपन विभाष होया और ध्यातम्बन की परिस्थितिवा तथा ध्यातयवा ध्यातम्बनबाह्य उद्दीपन कहाया।

ध्यातय का रसवद् धुक्म—ध्यातय का रसवद् धुक्म भी हो ध्यातय है ध्यातय ध्यातय की रस ध्यातय भी होती है। ध्यातय धुक्म में ध्यातयके ध्यातय के ध्यातय होने की ध्यातय का नाम रस ध्यातय है। धुक्मजी ध्यातय की ध्यातयवस्था को

रस बघा कहते हैं। जब कोई व्यक्ति पृथक् सत्ता को सोफ सामान्य सत्ता में किसीन करके अपने स्वार्थ सम्बन्धों से रहित होकर जगत के माता रूपी धीरे व्यापारों को देखता है तब उसका हृदय मुक्त कहलाता है। इसी मुक्तावस्था में जब वह जगत् धीरे जीवन के उन रूपों-व्यापारों के प्रति किसी भाव की अनुभूति करता है तब वह रस रूप होती है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति हो सकती है। कवि हृदय की इन मुक्तावस्था में घाकर जब अपने काव्य का निर्माण करता है तब काव्य जगत् के अनेक रूप-व्यापार धीरे उनके प्रति काव्य के पाशों की विभिन्न अनुभूतियों के दर्शन व अन्वय से पाठक, श्रोता व श्रोता का हृदय भी मुक्तावस्था में पहुँच जाता है। वह भी अपने स्वार्थ सम्बन्धों के अनुचित घेरे से बाहर निकलकर सोफ सामान्य भाव भूमि पर बिखरने लगता है। उसके हृदय में काव्य जगत् की माता-गातियों व रूपों का साक्षात्कार करके कुछ अनुभूति का संचार होने लगता है। उसे अपनी पृथक् गत्ता का मान नहीं होता है। इसे ही सुबनबी भाव का रसवत् चहल या भाव की रस बघा स्वीकार करते हैं।

रस—इसके प्राचीन मक्षण का विद्वयपत्र भी शुक्लजी ने किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने साहित्य-दर्पण के रस-मक्षण का अपना आधार बनाया है। साहित्य-दर्पण में रस का अर्थ है—“सहृदय पुरुषों के हृदय में वासना रूप से स्थित रसि धारि स्थायीभाव ही विभाव अनुभाव धीरे संचारी के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस के स्वयं को प्राप्त होते हैं।

उक्त मक्षण की व्याख्या करते हुए शुक्लजी कहते हैं—“इसमें स्पष्ट है कि सहृदय पुरुषों के हृदय में प्रमुक्त भाव ही रस का रूप धारण करते हैं। जब वे विभावार्थि के द्वारा व्यंजित किये जाते हैं। किसी के हृदय में भाव का अन्वय होता वस्तुतः उन भाव की अनुभूति के प्रतिगिन और कुछ नहीं है। इसलिए हम जान को हम धीरे स्पष्ट रूप में या कह सकते हैं कि विभाव अनुभाव धीरे संचारी भाव के प्रवर्तन द्वारा भाव की अनुभूति योगा या शक्ति के हृदय में रस रूप में उत्पन्न होती है।

शुक्लजी ने प्राचीन साधकों के यमान रसानुभूति की व्याख्या के लिए

बिस्वी बर्षण शास्त्र को अपने मूलक्य का आधार नहीं बनाया है। उन्होंने बर्षण शास्त्र की किसी अटिभ प्रक्रिया को भी अ पीकार नहीं किया है। वे सीधे शब्दों में विमात्र-अनुमात्र के संयोग के रस की उत्पत्ति मानते हैं और ह्य्यादि श्याप से इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने का यत्न करते हैं। जैसे भुव और अमात्र के मिश्रण से यही उत्पन्न होता है उसी प्रकार विमात्र और अनुमात्र के संयोग से रस उत्पन्न होता है। रस उनकी दृष्टि में अनुभूति है अनुभूति का विषय नहीं।

धरत मुनि के मादयशास्त्र में बर्षण रस मख्य में भी 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन शब्दों के अर्थ को अकार बनाकर मट्ट लोत्सवट ने उत्पत्तिवाद, मट्ट अक्षुभ मे अनुभूतिवाद, मट्टनायक में अक्षि वाद और अक्षिनवगुप्त ने अक्षिभ्यक्तिवाद की स्थापना की है। भुक्तजी ने इन आचार्यों में से किसी एक के बाद का अम्भानुसरण नहीं किया है अक्षिनु स्वतन्त्र रूप से अपने पक्ष की उद्घाटना की है। यह स्पष्ट है कि भुक्तजी भी मट्ट लोत्सवट के समान रस की उत्पत्ति मानते हैं। मट्टलोत्सवट का कार्य कारण भाव या उत्पाद-उत्पादक भाव की कितनी प्रकार भुव-वही के दृष्टांत में प्रवृत्त किया जा सकता है परन्तु वे रस की स्थिति मट्टलोत्सवट के अनुसार अनुकार्य में न मानकर अथवा या दर्शक हृदय में स्वीकार करते हैं। विमात्र-अनुमात्र अथवा के मन में अज्ञान रूप से उपस्थित रहते हैं। इसी अज्ञान से रस नामक अनुभूति उत्पन्न होती है। मट्टनायक के अक्षिवाद और अक्षिनवगुप्त के अक्षिभ्यक्तिवाद में भी रस की स्थिति दर्शक या अथवा में ही आती बर है। इस दृष्टि से भुक्तजी उक्त दोनों आचार्यों के समर्थक कहे जा सकते हैं फिर भी वे रस की 'अक्षि वा 'अक्षिभ्यक्ति' नहीं कहते 'उत्पत्ति' कहते हैं। उनके रस-विज्ञान में प्रकारान्तर से मट्टनायक तथा अक्षिनवगुप्त की धारणाओं का अक्षिभय नवीन रूप धारण करके आया है। मट्टनायक की अक्षिभाबुति का स्पष्ट उल्लेख उन्होंने नहीं किया है, परन्तु विमात्र-अनुमात्र के अज्ञान से ही रस की उत्पत्ति आती है। अतएव और अक्षिनवगुप्त के समान वासना रूप से अथवा व दर्शक में भाव की

स्थिति मानते हैं। हृदय में मांस की अतिव्यक्ति से मांस की अनुभूति का ही अर्थ लेते हैं। वे रस प्रक्रिया में 'अतिव्यक्ति' अर्थ का प्रयोग नहीं करता चाहते हैं क्योंकि अतिव्यक्ति के मूल में व्यवसाय का व्यापार होता है और व्यवसाय का आर्थिक अर्थ होता है 'प्रकट करना'। प्रकट वही वस्तु होती है जो प्रकट होने से पूर्व विद्यमान रहती है। अतिव्यक्ति या अनुभूति के पूर्व रस की मत्ता नहीं होती तो फिर उसकी व्यवसाय द्वारा अतिव्यक्ति सम्भव नहीं हो सकती। अतः रस-प्रक्रिया में 'प्रकट करना' का अर्थ केवल अनुभूति उत्पन्न करना ही माना जा सकता है। वस्तुतः रस उत्पन्न होता है मान नहीं करवाया जाता है। प्राचीन उत्पत्तिवाद पर यह आधार दिया जाता है कि रस न तो आप्य है न कार्य वह तो योग्य या व्यर्थ है। धुस्मजी रस को आप्य नहीं मानते हैं। इसी कारण वे व्यक्तिविवेककार महिम मट्ट के इस तर्क का रस प्रक्रिया में ग्रहण नहीं करते। क्योंकि कारण में कार्य का अनुमान होना है इसीलिए विभाव-अनुभाव और मन्वारी कारणों में रसादि का अनुमान होता है जिससे रस की निवृत्ति होती है। वे रस को अनुभव नहीं मानते क्योंकि केवल मांस ही मत्ता के ज्ञान में रस सर्वथा पृथक् है। रस को कार्य मानने में उन्हें कोई आधार प्रतीत नहीं होता। वे कहते हैं कि रस के कार्यत्व के सम्बन्ध में जो आधार उठाई गई है वह प्राकृतिक मनोविज्ञान की दृष्टि में बाध नहीं है। इस आधार का मूल है न्याय दर्शन का यह सिद्धांत कि युगपत् ज्ञान सम्यक् है अर्थात् कारण और कार्य का साप-भाव ज्ञान नहीं हो सकता है। यदि रस को कार्य मानें तो विभाव आदि कारणों की प्रतीति के अन्तर ही रस कार्य की अनुभूति माननी पड़ेगी। रसानुभूति में ऐसा ज्ञान ही संभव नहीं होता है। आश्रयाभाव रस को अन्तरय ज्ञान व्यर्थ मानते हैं। वे प्राकृतिक विज्ञान के आधार पर इस आधार का निराकरण करते हैं। आचार्यों का यह आधार इस बात को सूचित करता है कि उत्पन्न ज्ञान और अनुभूति के पारस्परिक सम्बन्ध की उल्लेख की है। ज्ञान अनुभूति और इच्छा का संवेप ही माना जाता है अतः ज्ञान और अनुभूति दोनों की युगपत् अनुभूति ही मन्वारी है अर्थात्

यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि विभाव-अनुभाव के प्रदर्शन से ऐसे विभाव-अनुभाव के ज्ञान की उत्पत्ति होती है जिसके साथ विद्वेष प्रच्छन्न या प्रसुप्त भाव की अनुभूति नहीं रहती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मुक्ताजी रस की उत्पत्ति मानते हैं और रस की स्थिति दर्शक व पाठक के हृदय में मानते हैं क्योंकि वही विभाव और अनुभाव के संयोग की प्रक्रिया निष्पन्न होती है।

साधारणीकरण—काव्यगत पात्रों द्वारा जब विभाव-अनुभावादि की व्यञ्जना की जाती है तब पाठक व धोता अपने हृदय में काव्य में वर्णित घाम्भ्य के साथ की अनुभूति करने लगते हैं। इस सम्बन्ध में यह धारणा की जा सकती है कि यदि पात्र ऐतिहासिक महापुरुष हैं और हमारी उनके प्रति अथाह भ्रष्टा या भक्ति है तो उसके भावों के प्रदर्शन काम में हम स्वयं समाप्त भाव की अनुभूति नहीं कर सकते हैं अर्थात् यदि राम का उद्वेग सीता के प्रति प्रदर्शित किया जा रहा है तो हमारे हृदय में यह रस मात्र जैसे उभरित हो सकता है। इसी तरह की अन्वय्य धारणाओं की दृष्टि में रहते हुए प्राचीन रस समीक्षक आचार्यों ने 'साधारणीकरण' नामक प्रक्रिया का उल्लेख किया है। उक्त चारु आशोक आचार्यों ने स भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त ने ही दर्शक व श्रोता में रस की स्थिति मानी है और 'साधारणीकरण' के प्रश्न पर विभाव विवेचना की है।

भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार की कल्पना की है। इस व्यापार के द्वारा पाठक व दर्शक काव्य में वर्णित घाम्भ्य घाम्भ्यन आदि को विविष्ट व्यक्ति के रूप में देखने के स्वान पर साधारण स्त्री-पुरुष के रूप में ग्रहण करने लगते हैं अर्थात् कवि कर्म से काव्य की कथा के व्यक्तियों का ऐतिहासिक तथा व्यक्तिगत स्वरूप धोखल हो जाता है। जब राम और सीता अपने वैयक्तिक रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित नहीं होते अपितु सामान्य पुरुष या स्त्री रूप में धा विराजते हैं और इस प्रकार व हमारे भावों के विषय मनने के योग्य हो जाते हैं। यह एक प्रकार से विद्वेष को साधारण समझने की क्रिया होती है अतएव भावकत्व व्यापार का 'साधारणीकरण' का नाम

दिया जाता है। इसके ही कारण अनुकार्य या वर्म पात्र के भाव उभर नहीं उठते वं तो सब लोचनानाम्य के हो जाते हैं। धर्मिनवपुत्र ने मावकत्व व्यापार का उक्त स्वरूप ग्रहण नहीं किया है। वे विभाव धारि के दयाव व पत्रकाल में भी साधारणीकरण के रूप में विविष्ट पात्र को साधारण व्यक्ति मानना समझ नहीं समझते हैं। भट्टनायक के भावकत्व व्यापार में विविष्ट व्यक्तियों को साधारण समझने की बात नहीं पाई है और यह माना गया है कि विवेकत्व के परिष्कार के परिष्कार-स्वरूप धर्मिक व पात्र के स्थायी भाव विविष्ट सम्बन्धों से मुक्त हो जाते हैं। धर्मिनवपुत्र साधारणीकरण के विरोधी नहीं परन्तु व इस रूप में पात्र की सामान्यता स्वीकार नहीं करते। उनको दृष्टि में विभावादि समान-वस्तु के सम्बन्ध से उद्भूत हो जाते हैं। वह भाव सब व्यक्ति का धरना होने पर भी धरना नहीं रहता। वह सब सम्बन्ध सामान्यता के हृदय की अनुभूति का समान रूप में विषय होता है। हमारे धर्मों में बाध्य व बन्धन बन्धु को देना पर या मुनकर एक व्यक्ति के हृदय में जमी धारण की अनुभूति होती है वही ही प्रत्येक के हृदय में होने लगती है। हमें यह स्पष्ट है कि धर्मिनवपुत्र साधारणीकरण को हृदय का काम स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत भट्टनायक का साधारणीकरण कवि-वचन साधक्य होता है। धर्मिनवपुत्र की दृष्टि में यह साधारणीकरण सम्बन्धों का होता है सामान्य का नहीं। यही धर्मिनवपुत्र का भट्टनायक के मत में धरना है।

मुसवती ने भी इस सम्बन्ध में धरनी धारणाओं का प्रकाशन किया है। व कहते हैं—

“वर्तनी पात्र के धारणत्व का प्रदर्शन भाव की अनुभूति को हम रूप में वैसे उदाहरण कर सकते हैं सामान्यता की प्रकिया में जिसे साधारणीकरण कहते हैं। धोना या धमक का पात्र के साथ साधारण्य हो जाता है। भावों की अनुभूति प्रकिया विविष्ट विषयों के साथ नहीं जाती प्रत्युत साधारण रूप में होती है। उदात्त भूति धारण में धोना हम धारण का विचार करने नहीं

जाता कि माघ मेरे हैं या कुमरे के ।

पुष्पजी के साधारणीकरण-विज्ञान पर मट्टनायक का अधिक प्रभाव है । मट्टनायक के अनुसार वे भी धामम्बनत्व वम का साधारणीकरण मानते हैं पर्यन्त अब तक किसी भाव का कोई विपक्ष इत रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः उसके उसी भाव का धामम्बन हो सकें तक तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण स्थिति नहीं पाती । इसी रूप में भावा जाता साधारणीकरण कहा जाता है ।

उनकी धारणा है कि काव्यगत धामम्बन ऐसा होना चाहिये जो मनुष्य मात्र की साधारणक लता पर प्रभाव डालने वाला हो ? इसका परिप्राय यह नहीं कि उन्होंने व्यक्तियों की रचि और प्रकृति की भिन्नता की उठेला की है । वे कहते हैं कि जैसे एक मनुष्य की प्रकृति दूसरे मनुष्य की प्रकृति से नहीं भिन्नती फिर भी सामान्य प्रकृति वाचना के आधार पर सब मनुष्यों की एकता प्रतिपादन की जा सकती है । ठीक इसी प्रकार प्रकृति तथा रचि की भिन्नता रहने पर भी जोर हृदय की सामान्यता भी प्रमाणित की जा सकती है । नर-समष्टि की सामान्यता प्रकृति के भीतर कुछ ऐसी धामम्बनियाँ हैं जिनमें वर्तित धामम्बनता विद्यमान है । साधारणीकरण विज्ञान की प्रतिष्ठा सामान्य धामम्बन की नींव पर की गई है ।

मट्टनायक के सिद्धान्त के अनुसार सामान्य धामम्बन की प्रतिष्ठा कवि-कर्म-सापेक्ष है । पुष्पजी की दृष्टि में भी विभाव वर्तित सर्व-सामान्य धामम्बन-विज्ञान के बिना रसोत्पत्ति सम्भव नहीं हो सकती है । यदि धामम्बन सर्व सामान्य नहीं होगा पर्यन्त वह मानवमान के भाव का धामम्बन न हो सकेगा तो ऐसे धामम्बन की प्रतिष्ठा में कवि-कर्म विभाव-विभावक नहीं माना जाएगा । वह तो केवल भाव-सर्वगत भाव होता । ऐसी स्थिति में साधारणीकरण या पूर्ण रसोद्बोधन सम्भव नहीं ।

पुष्पजी ने धामम्बन के साधारणीकरण सम्बन्धी धारणा का भी बहस किया है । उनका यह कथन कि 'रसानुभूति काव्य में होता इस भाव का विचार करने नहीं देना कि माघ मेरे हैं या कुमरे के'—एक प्रकार से

प्रथमबन्धु के समस्त-परत्व के सम्बन्ध का परिचय ही है । इसी प्रकार हस्तों के साधारणीकरण को भी उन्होंने एक प्रकार से स्वीकार कर दिया है । वे कहते हैं कि समस्त पात्र के मन में यह भय भाव नहीं रहता कि यह धाम्भन मेरा है या दूसरे का । बोड़ी देर के लिए पात्र या आना का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है । उसका अपना अपना हृदय नहीं रहता ।

पुरुषकी ने साधारणीकरण के सिद्धान्त को प्राकृतिक कला-समीक्षा की कसौटी पर भी रखा है । प्राकृतिक कला-समीक्षा का यह सिद्धान्त है कि कोई सामान्य सिद्धान्त प्रतिनिधित्व करता तर्क और विज्ञान का काम है—निदर्शयामिका बुद्धि का वाक्यवाचक है । वाक्य का काम है कल्पना में 'विश्व या 'मूर्त' जाचना उपस्थित करना बुद्धि के नाम से कोई विचार लाना पड़ी । विश्व अब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा सामान्य या ज्ञान का नहीं । इस सिद्धान्त के अनुसार वाक्य का धाम्भन सामान्य नहीं हो सकता है । भट्टनायक ने यह कहा है कि धाम्भन विशेष नहीं रहना सामान्य हो जाता है । इसलिए प्राकृतिक कला सिद्धान्त के साथ 'साधारणीकरण का सामान्य करने के लिए उन्होंने भट्टनायक के सिद्धान्त का एक प्रकार से संशोधन कर दिया है । वे कहते हैं कि धाम्भन के साधारणीकरण का अर्थसाय यह है कि पात्र या धोता के मन में जो व्यक्ति विषय या वस्तु विषय धानी है वह जैसे वाक्य में व्यक्ति वाचक के भाव का धाम्भन हो जाती है वैसे ही वह महत्व पाठकों या धोताधो के भाव का धाम्भन हो जाती है । व्यक्ति जो विषय ही रहता है पर उसमें प्रतिष्ठा तब सामान्य बन को रहती है तब ही साधारण में सब धाम्भनों का पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय बाढ़ा का बहाना होता है । मान्य यह है कि धाम्भन कर में प्रतिनिधित्व व्यक्ति कला प्रभाव वाले बुद्धि बलों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का धाम्भन हो जाता है । इस संशोधन में प्राकृतिक कला-समीक्षा की विषय प्रथम की कसौटी पर प्राचीन साधारणीकरण का सिद्धान्त भी पूरा उतरता है । अन्त में निर्मा प्रकार का विचार नहीं रहता है ।

रस रस्य की शोधियाँ—'साधारणीकरण' विज्ञान का प्रतिपादन करते समय मुक्तजी ने रस रस्य की तीन श्रेणियों की मौलिक उद्घाटना की है। वे कहते हैं कि प्राचीन भाषाओं ने इस विज्ञान की प्रतिष्ठा करते समय श्लेष या पाठक के काव्यगत धारण के साथ साधारण्य की व्यवस्था पर ही विचार किया है परन्तु उन्होंने इस बात की धोर ध्यान नहीं किया कि काव्य में ऐसे वर्णन भी धा सकते हैं जहाँ श्लेष या पाठक काव्यगत धारण के साथ साधारण्य नहीं कर पाता। फलतः धारण विषय भाव की अनुभूति वरिष्ठ धारण्य के प्रति करता है पाठक व श्लेष उस भाव की अनुभूति न कर किसी धारण्य स्वतन्त्र भाव की अनुभूति करने लगता है। इस रस्य में श्लेष व पाठक का हृदय उस धारण्य (पात्र) के हृदय से मिलन रहता है। ऐसी स्थिति में वह पात्र के शीत शब्दों या प्रकृति शब्दों के रूप में प्रभाव प्रकृत्य ग्रहण करेगा। वह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा यह रस्य भी एक प्रकार की रस रस्य ही है। इसी साधारण पर मुक्तजी ने रस रस्य की श्रेणियों की उद्घाटना की है। वे कहते हैं कि साधारणीकरण का शीत शब्दों में धारण्य है श्लेष का भी उसी भाव में मग्न होना जिस भाव की कोई काव्यगत पात्र (या कवि) व्यञ्जना कर रहा है। यह रस्य तो रस की उत्तम रस्य है धारण्य वही रसानुभूति उत्तम श्रेणी की होगी। जहाँ काव्यगत पात्र के द्वारा व्यञ्जित भाव में श्लेष या पाठक का हृदय मीत नहीं वे पाता केवल उस पात्र के शीत शब्दों के रूप में स्थित रहता है जहाँ वह पात्र का धारण्य पाठक व श्लेष का धारण्य नहीं रहता परन्तु वह पात्र ही उनके किसी भाव का धारण्य हो जाता है। इस रस्य में धारण्य के साथ साधारण्य तो नहीं होता परन्तु कवि के उस धारण्य भाव के साथ होता है जिसके अनुभव वह पात्र के स्वरूप की प्रतिष्ठा करता है। पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का धारण्य रहता है पाठक व श्लेष व भी उसी भाव का धारण्य प्राप्त वह हो जाता है। ऐसी स्थिति में पाठक व श्लेष के हृदय में जो रसात्मक अनुभूति होगी वह रस की मध्यम रस्य कहलाएगी धारण्य रस रस्य की मध्यम श्रेणी होगी।

उत्तम कोटि की रस दशा म शोभा व पाठक अपनी वृक्षक सत्ता का कुछ धारों के लिए विचक्षण कर भाषम की आवात्मक सत्ता म विनीत हा जाता है, परन्तु मध्यम कोटि की रस दशा म शोभा व पाठक अपनी वृक्षक सत्ता धमम सेमास रखता है और बाब म शीत विद्ये के दशन म किसी धमम भाव की धनुमूनि करता है ।

आधुनिक काल मे वास्तव्य दृश्य काव्यों म धमम प्रकृति के वैचित्र्य का प्रभावधमा प्रदर्शन किया जाता है । इस शील वैचित्र्य को भी दृष्टि मे रखते हुए धनुमजी मे साधारणीकरण तथा रसदशा की कोटिया की कल्पना की है । वे कहते हैं कि पाठों क धमम प्रकृति वैचित्र्य से तीन बाण हा मनी है—१ आदर्शपूर्ण प्रसादन २ आदर्शवपुष धममादन ३ दुरुहममाध ।

आदर्शपूर्ण प्रसादन शील के धरम उत्कृष्ट क साक्षात्कार म होना है । राम मरन धारि महापुरवों क उत्कृष्ट शील वैचित्र्य मे पाठक व शोभा के हृदय मे आदर्शक मिश्रित धमम भक्ति का संचार हा सकता है और उत्कृष्ट पाठों द्वारा व्यञ्जित धारों को पाठक व शोभा धममाकर उनमें शील भी हो सकता है । भाव व्यञ्जना काल म पाठक या शोभा का इन पाठा के माध साधारण्य हो जाने मे जो रमात्मक धनुमूनि हावी बहु उत्तम कोटि की होती ।

आदर्शपूर्ण वपुष धममादन शील क धमम धमम के साक्षात्कार म हाता है । कूरु, धममायी पाठों की भाव-व्यञ्जना मे पाठक व शोभा धमम हृदय का शील मही दे सकता । बहु उनके कूरु धरिध मे प्रभावित होकर आदर्शक मिश्रित धरिधि धमम धमम भावनाधा की धनुमूनि करने लगता है । इस धममि मे भी पाठक की धमने धारों म तन्मीनता मन्धव हो जाती है । मही मन्धी मता रस दशा है परन्तु बहु मध्यम कोटि की है ।

कुछ लोगों के कथनानुसार ऐसी धममिध प्रकृति जो धममिध की जा मनी है जिन्के साक्षात्कार म म हो प्रसादन होना है और न धममादन है धममिधु दुरुहम या मकारजन ही पाठक व शोभा के हृदय म उतान्य होना है । गुणजी कहते हैं कि इन धरार की धममिध प्रकृति ममार मे धमम

रित करने की समता रखता है। यदि कोई उत्साही वीर हमारे सम्मुख भोक्तृ कल्याण काम करता था तो उसके उत्साह भाव के धामध्वन से हम भी उत्साह की भाग्यमयी अनुभूति कर सकते हैं। इसी प्रकार लोक पीड़न या क्रूर कर्मा धरवाचारी को श्रेष्ठ-मुनकर उसके प्रति विश्व श्रेष्ठ का हमारे हृदय में उदय होया वह भी उस कोटि का होया क्योंकि उसमें अपने व्यक्तित्व का परिष्कार और भाग्य हृदयों का समान रूप में योग सम्पन्न हो जाएगा। भोग की वास्तविक अनुभूति यद्यपि दुःख रूप होती है तथापि व्यक्ति बड़ा बड़ा न मुक्त हो जाने के कारण वह अनुभूति भी भाग्य स्वरूप समझी जा सकती है।

भग की प्रबलानुभूति सभी उस कोटि की मानी जा सकती है जबकि हमारा ध्यान अपने व्यक्तित्व की ओर न होकर भोक्तृ से सम्बद्ध रहेगा। हमी के मनस्व यदि किसी ऐसे व्यक्ति धारण करने के प्रति हमारी अनुप्राणा होती जिसे देखते ही भोक्तृ सामान्य की रूचि का स्वाभाव हो सकता है तो हमारी वह अनुभूति समझी मानी जा सकेगी। भोक्तृ भाव अपनी निज की दृष्टि हानि पर होता है परन्तु कर्मका हुनरों की पूर्णति या पीड़ा से उत्पन्न होती है अतएव भोक्तृ भाव से उत्पन्न होने वाले उस का नाम 'कर्मका' रखा गया है। कर्मका ही एक ऐसा स्वापक भाव है जिसकी प्रत्यक्ष अनुभूति सब रूपों में और सब बचानों में रसात्मक होती है क्योंकि कर्मका से उत्पन्न होने वाला दुःख हमारा भाग्य नहीं होता है भोक्तृ सामान्य का होता है। इस स्थिति में यद्यपि हम दुःख का ही अनुभव करते हैं तथापि हमारा हृदय उस समय मुक्त बचा में होता है, उसका अपने योग श्रेष्ठ मुक्त-दुःख हानि-नाश से सम्बन्ध नहीं रहता है। महाकवि सबभूति ने जो कर्मका उस को ही सब रतों का मूल माना है उसके मूल में कर्मका की यही विशेषता विद्यमान है।

हमी प्रथम में दुःखनारी से प्रकृति के मानाकर्षों के वर्णन से उत्पन्न होने वाली अनुभूति को भी रसात्मक वर्णित किया है। उनका कथन है कि प्रकृति प्रेम हमारे ध्यान-करण में भागना सब से बंधन-परमपण से विद्यमान है। ऐसी स्थिति में प्रकृति का हमारे प्रेम भाव का धामध्वन होकर रसानु

भूति करना स्वाभाविक ही है। यह कहा जा चुका है कि गुप्तजी काव्य में प्रकृति को धामम्बन रूप में भी धारण मानते हैं। 'काव्यगत प्रकृति वर्चन में जी रमोद्बोधन की समता हो सकती है' उनका यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि वे रसानुभूति के लिए धायय चित्रण को अनिवार्य नहीं मानते बल्कि काव्यगत प्रकृति वर्चन में धायय का चित्रण न होने पर भी रसात्मकता हो सकती है। वे कहते हैं 'यहाँ धायय का स्पष्ट उल्लेख नहीं होता वहाँ उसका धारण कर लिया जाता है। इस सम्बन्ध में यह धारणा उदाई जाती है कि यदि प्रकृति को धामम्बन माना जाएगा तो धामम्बन के जड़ होने में तथा अनुकूल प्रतिक्रिया का प्रभाव होने में भाव की पूर्णता नहीं हो सकती। इसके उत्तर में गुप्तजी यह कहते हैं कि यह धारणा उचित नहीं है क्योंकि बुधा भाव का धामम्बन भी उदा रहता है परन्तु वहाँ उस बुधा स्वीकार की जाती है। इस प्रकार प्रकृति की प्रत्यक्षानुभूति में तथा काव्यगत प्रकृति वर्चन में उत्पन्न होने वाली अनुभूति में रमोद्बोधन की समता स्वीकार की जा सकती है।

वास्तविक स्मृति कल्प-विधान—स्मृति कल्प विधान में भी रमोद्बोधन की समता मानो जा सकती है। गुप्तजी कहते हैं कि भूतकाल में प्रत्यक्ष की हुई वस्तुओं का वास्तविक स्मरण भी कभी-कभी रसात्मक होता है। प्रिय का स्मरण वास्तविक या कीर्तनकाल के घटीत जीवन का स्मरण प्रकाश में स्वदेग-स्वप्नों का स्मरण निबिबाह रूप में रसात्मक होता है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने के योग्य है कि स्मृति कल्प-विधान प्रायः सभी रसात्मक होगा यदि उनका सम्बन्ध रति ज्ञान और कल्पना स्वामी भावा के साथ होगा। हमारे ज्ञानों के धामम्बनों का स्मरण भी रसात्मक हो सकता है। यदि उनका सम्बन्ध केवल हमारी व्यक्तिगत भावना के माध्यम द्वारा सम्पूर्ण मन्त्रीयन की धारणा के साथ है।

स्मृति के ममान प्रत्यभिज्ञान में भी यह सच्यार की बड़ी गहरी धारणा गुप्तजी स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि वास्तव या जीवन जीवन के किसी भागी के बहुत दिनों की भावने घाने पर विचने दुखने बुद्ध हमार मने क

भाता है। विभाव पत्र के अन्तर्गत उन सब वस्तुओं और व्यापारों को निवा
जाता है जो हमारे मन में छिम्बर्न माद्युं दीष्टि कामि प्रताप ऐश्वर्य
विभूति इत्यादि की धारणाएँ उत्पन्न करते हैं। दूसरे शब्दों में गुंभार, रीत्र
बीर कश्च यादि रत्नों के धामम्बगी और उड़ीपनों के बर्चन प्राकृतिक
वृष्टी के बचन विभाव बस में धाते हैं। इस प्रकार के सभी प्रस्तुत वषों
तथा व्यापारों की योजना करने में ही कल्पना की उपयोमिता है। इनके
अतिरिक्त धनुषाओं की योजना से माभव के स्वरूप की प्रतिष्ठा 'कल्पना'
ही करती है। धनुष भाषों को मूर्त रूप प्रदान करने की क्षमता भी
इसी तत्त्व में है। भाषों की धमीम ऊँचाई गहराई का चिन्तन करने के
लिए कल्पना ही उद्यनुस्य शब्द योजना करती है धनुषा भाषों की सम्बन्ध
व्यवस्था ही नहीं हो सकती। भाव-व्यवस्था के लिए 'कल्पना' पुर्न स्वच्छन्द
होकर शोक सर्वादा का भी उन्मचन कर देती है बहु पक्षकों के पाँके
विद्यगी है और प्रमी द्वारा मिय को धाँवो में बसावे भी बात बहती है।

अप्रस्तुत रूप विभाव—प्रस्तुत वस्तुओं के स्वरूप को तथा तत्सम्बन्धी
मावना को अधिक स्पष्ट एवं उच्छुष्ट करने के लिए प्रस्तुत के बाव तत्सम्ब
अप्रस्तुत वस्तुओं को भी काव्य में भागा पकता है। अप्रस्तुत रूप-व्यापार की
योजना भी 'कल्पना' का ही कार्य है। इसमें काव्य का कला पत्र भाता है।

प्रस्तुत वा अप्रस्तुत रूप योजना करने वाली वही कल्पना काव्य के लिए
उपादेय मानी जासकती है जो वा तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो मववा भाव
प्रवर्तन और मचार करती हो जो हृदय की प्रेरणा से प्रवृत्त होकर हृदय
पर मभाव डालती हो। धुक्तनी 'कल्पना' को काव्य का 'शेष पक्ष कहते
हैं और इनके साथ साथ का बोध स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि भारतीय
रम मित्राल के अनुसार काव्यमय कल्पना का मूलकम भावात्मक वा धनुष
स्वात्मक निपा वा लफटा है। मनोविज्ञान के अनुसार भाव का जो स्वरूप
निर्दिष्ट होता है उसमे ज्ञान भी अवयव रूप में विद्यमान है, कथ मिय प्रकार
मौकिक व्यवहार में प्रथम वस्तु का ज्ञान होगा है और तत्तन्तर इसके
प्रति भाव मचार होता है। टीक उसी प्रकार काव्य क्षेत्र में भी भाव मचार

के लिए ज्ञान धर्म की आवश्यकता है। इस धर्म की पूर्ण कल्पना सत्य प्राप्त हो जाती है। 'कल्पना' बस्तुओं की रूप-योजना करना है जिसके अन्तःशास्त्रकार ने कवि और पाठक को भाव-प्रसार के लिए आवश्यक ज्ञान प्रसार की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार एक प्रकार में कल्पना काव्य का अन्तर्गत बोध पत्र टूटती है। मुख्यतः की धारणा है कि काव्य में इस बोध पत्र के प्रतिरिक्त भावपत्र भी रहता है अर्थात् इस कल्पित रूप-योजना के मूल में प्रकृत रूप में भाव या मनोविचार रहते हैं और ये ही कल्पना में पाई बस्तुओं के रूपों या व्यापारों में पाए गए धोता के मन की रचना वाले होते हैं। वे परिष्कृत कृत साहित्य भीमात्रकों में सहज नहीं हैं या भाव पत्र की धारणा करना करके 'कल्पना' को मन में प्रकृत महत्त्व प्रदान कर रहे हैं। इसी निवामी श्रेणी ने कल्पना पत्र की प्रधानता देकर उसका मूल रूप ज्ञानात्मक स्वीकार किया है। वे इस स्वयंप्रकाश ज्ञान अर्थात् बुद्धि की क्रिया के बिना मन में धार-मे-धार उठी हुई मूल भावना कहते हैं। वे ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान और विचार जन्म ज्ञान बाला में सर्वथा निरपेक्ष स्वतन्त्र मान कर चले हैं। स्वयंप्रकाश ज्ञान का बोध में इनके व्यक्त होना ही कल्पना है। यह कल्पना ही मूल अभिव्यक्ति है जो मीतर होनी है और शब्द गद्य आदि द्वारा बाहर प्रकटित की जाती है। इस प्रकार शब्द 'कल्पना' की व्याख्या अर्थक क्रिया मानते हैं और उक्त विचार प्रमुख ज्ञान में अन्तःशास्त्रकार अत्यन्त महत्त्व प्रदान करते हैं। इसी के परिणाम स्वरूप काव्य भीमात्रा के धर्म में अनेक बार प्रकटित होत लये हैं। कल्पना की व्याख्यात्मक क्रिया तथा निरपेक्ष ज्ञान मान लेने से काव्य रूपों को बाह्य जगत् के अन्तर्गत रूपों में अन्तःशास्त्रकार ही बन पाई है। अतः 'कल्पना' व्याख्यात्मक अर्थ का अन्तर्गत है 'कल्पना' का शक्ति ही निरपेक्ष है 'कला कला के लिए, 'काव्य शक्ति' की भावना है 'काव्य शक्ति मूर्ति है इत्यादि अन्तःशास्त्रकारों तथा साहित्यिक व्याख्याओं की प्रकटित हो गई है। अतः काव्यगत रूप और व्यापार बाह्य अर्थ के रूप आदि की ही धारण है। ये शब्द के अन्तर्गत व्याख्या के धर्म मानने से निश्चय ही कोई अन्तर्गत रूप नहीं है। अन्तर्गत ज्ञान के ज्ञान

संस्कार मन में संचित रहते हैं वे ही कर्मी बुद्धि के बच्चे हैं कभी यों ही निम्न-निम्न रूप से अभिन्न होकर बना करते हैं। यही मूर्त भावना या कल्पना है। यदि इनका सम्बन्ध बृष्ट अथवा अनुभूत पदार्थों के साथ नहीं है और वे विद्यपत्तया धात्मा से निकले हुए हैं तो उनकी उद्भावना जगत्मान्नों का भी बेंसी ही होगी बाहिए जैसी धातु बानों को हो सकती है। मुक्तजी की धारणा के अनुसार या काव्यानुभूति जीवन-खेद में संचित अनुभूतियों का ही रसात्मक रूप है। वे काव्य में कल्पनाका साधारणरूप ही स्वीकार करते हैं क्योंकि वे काव्य में हृदय की अनुभूति को धयी मानते हैं और मूर्त रूप को दग। इस प्रकार 'कल्पना' मात्र ही सहयोगिनी बनकर ही काव्य में तत्त्व रूप से स्थान प्राप्त कर सकती है साम्यरूप से नहीं।

दोली तत्त्व-धर्म विधान—दोली का सम्बन्ध काव्य के कलापय के साथ होता है। यह एक प्रकार का रचना तत्त्व है। उसके द्वारा कवि एक रचनाकार जीवन से प्राप्त सामग्री को एक निश्चित रूप में विन्यस्त करके उसमें लौकिक धीर प्रभाव उत्पन्न कर देता है। मुक्तजी में काव्य स्वभाव के विनयेक में दोली तत्त्व की ज्येसा नहीं की है। उनको काव्य स्वभाव सम्बन्धी तीन परिभाषाओं में प्रयुक्त धर्म विधान उचित तथा बाह्यमय धर्म इसी तत्त्व के परिचायक है।

काव्य का सारा बाह्यी भाषा शब्दों का ही विधान से निर्मित होता है। सामान्य व्यावहारिक भाषा में भी शब्दों के विधान से कार्य जमाया जाता है, परन्तु व्यावहारिक भाषा के शब्दों और काव्य भाषा के शब्दों में अन्तर अत्यन्त रहता है क्योंकि उन दोनों में मौलिक उद्देश्य का मौलिक भेद रहता है। व्यावहारिक भाषा में केवल धर्म बहान से ही लक्ष्य तिष्ठि हो जाती है। यज्ञ केवल कित्ती बस्तु का तत्त्व का बोध कराना चाहता है परन्तु काव्य भाषा के धर्म विधान का उद्देश्य धर्म बोध के प्रतिरिक्त बाह्यमय अथवा अमलकारपूर्ण अनुभव भी होता है। यही दोनों में स्पष्ट अन्तर है।

शब्द शक्तिधर्म—धर्मजी काव्य में धर्म की ज्येसा नहीं करते हैं। धर्म में उनका अभिप्राय किसी बस्तु का विषय से ही है। काव्य का धर्म धर्मत्

वस्तु कल्पित होती है। वे प्रत्यक्ष अनुमति तथा प्राप्नोपलब्ध धर्मों को सम्यक्-म्यवहार, वर्धन तथा इतिहास क्षेत्र का ही मानते हैं। वर्धन विमान तथा इतिहास क्षेत्र के धर्म भी काव्य क्षेत्र में आ सकते हैं यदि उनके साथ कल्पित धर्म का भी योग हो जाय। भाषा अपने वाक्य के द्वारा धर्म का बोध कराती है। इतिहास में वर्धन में विज्ञान में नित्य की बातचीत सगई मगड़े में भाषा के शब्द वही काम करते हैं। काव्य की भाषा के शब्द भी इस बात के धारणा नहीं हैं। काव्य के शब्द जब अपने विभिन्न काय भाषो स्वेप एवं समस्कारपूर्व अनुकरण-करने हैं तब भी उनका धर्म के साथ योग प्रकल्प बना रहता है।

यद्यपि धर्म का यह सम्बन्ध अदृष्ट है। इनके साथ ही यह भी निश्चिन्ता है कि जहाँ धर्म होगा वहाँ योग्यता और प्रसंगानुक्रमता या प्रकल्प सम्बन्धना प्रकल्प विद्यमान होगी धर्मान् यह सम्बन्ध बुद्धि सम्मन एवं प्रसंगानुक्रम ही होगा। काव्यमय भाषा में यदि कहीं योग्यता तथा उपपन्नता का प्रभाव परिदृष्टिगत होता है तो धर्म की शक्तिधर्मों में इस बाध्यता तथा उपपन्नता की शक्ति की जाती है। प्राचीन धारणाओं की शक्ति धुक्करी में भी धर्मिता गहना तथा स्वयंता नामक धर्मगणितया तथा तात्पर्य बुद्धि की परिभाषाओं प्रस्तुत की हैं। प्राचीन धर्मोपदेशों का भी विवेचन अपनी धर्मिता धर्मिता के साथ किया है।

इस सम्बन्ध में विवेचन उल्लेखनीय बात यह है कि धुक्करी बाध्यता सत्यार्थ और स्वयंता में से काव्य की सम्यक्ता बाध्यार्थ में ही मानते हैं। वे कहते हैं कि धर्मिता शक्ति में धर्म के योग्य एवं उपपन्न धर्म (बाध्यार्थ) का बोध हो जाता है परन्तु काव्य की भाषा में प्रायः ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है जिसका धर्म उपपन्न धर्मोपदेश एवं अनुपपन्न प्रतीत होता है। ऐसे शब्दों में काव्य धर्मान् बुद्धिधर्म एवं प्रसंगानुक्रम धर्म की मात्र में सज्ज-स्वयंता शक्तिधर्मों विधाय महामता कर देनी हैं। इन शक्तिधर्मों में धर्म धर्मों की प्रतीति होती है वही धर्मों महामता स्वयंता होता है धर्मान् धर्मान् और अनुपपन्न बाध्यार्थ ही महामता या स्वयंता द्वारा बोध्य और

बुद्धिमाह्य रूप में परिणत होकर हमारे सामने आता है। उनकी धारणा यह है कि काव्य की भाषा में ऐसे अयोग्य अनुपपन्न शब्दार्थ वाले शब्दों के विधान से ही अमलकारपूर्व अनुसंधान की धमता उत्पन्न होती है। उन्होंने अपनी इस धारणा का समर्थन 'साकेत' महाकाव्य की उमिमा की एक रसारमक उक्ति के आधार पर किया है वह उक्ति यह है—

'आप अशक्ति वन लक्ष कहीं तो गया कुछ और लपाई ?
म अपने को मिटाकर उमिमा अपने प्रिय लक्ष्मण का वन से साने

इसमें अपने को मिटाकर उमिमा अपने प्रिय लक्ष्मण का वन से साने की बात कहती है। स्पष्ट ही इस अर्थ विधान का वाच्यार्थ अयोग्य एवं अनुपपन्न है अर्थात् बुद्धि इसे स्वीकार नहीं कर सकती। कोई भी अपने को मिटाकर दूसरे को साने की कल्पना नहीं कर सकता है। अब लक्ष्मण की धारणा अशक्तियों की सहायता से इस अर्थ विधान में से योग्य धीर विवक्षित अर्थ निकालने का प्रयास करके हम यह अर्थ ग्रहण करते हैं कि उमिमा में अपने प्रिय से मिलने का धीरमुख्य अरम सीमा में पहुँच गया है। उनकी धारणा के अनुसार वैचिन्त्य एवं रमणीयता इस अर्थार्थ में नहीं अपितु अर्थार्थ के आधारभूत शब्दार्थ में ही है। इसीलिए उनका सिद्धान्त है कि शब्दार्थ ही काव्य होता है। इसका नहीं अर्थ है कि लक्ष्मण की धारणा अशक्तियों के ही आधारित होती है अतः काव्यत्व का उम ही आधार मान लेना चाहिए। इससे अशक्तियों द्वारा संकेतित शब्दार्थ के महत्त्व का ही संकेत लेना चाहिए, सत्यता धीर अशक्तियों के द्वारा संकेतित शब्दार्थ या अर्थार्थ के विरोध का नहीं। वे लक्ष्मण की धीर अर्थार्थ को काव्य के लिए निष्प्रयोजन एवं निरर्थक नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि काव्य तो है अयोग्य अनुपपन्न-बुद्धि को अग्रहण अर्थ विधान परन्तु उसके बुद्धिमाह्य एवं योग्य अर्थ का काव्य में प्रयोजन यह है कि उसमें काव्य को धारण करने वाला यह सत्य अल्पनिहित है जिसकी देखरेख में काव्य मनमानी भीड़ा कर सकता है। इसी सत्य के साथ किसी उक्ति का सम्मान देखकर यह निश्चय किया जा सकता है कि उसका स्वरूप नहीं एक सुस्पष्टस्थित है। उक्ति की साक्ष्यता

धीर सचाई की परख के लिए उतका सामने रखने की आवश्यकता नहीं है। निस्सन्देह यह आवश्यकता अधिकतर समीक्षा को पड़ती है।

गुरुजी सांख्यिक शब्दा के प्रयोग को काव्य भाषा के लिए अनिर्वाह समझते हैं क्योंकि ऐसे ही शब्दा के प्रयोग में अगोचर ज्ञान सूक्ष्म जाबनाई गोचर एवं स्बुस भूर्त्त रूप में आता—वाक्य व दर्शन के सम्मुख उपस्थित होने सपती है। फलतः वे काव्य के उद्देश्य को पूर्ण करने में प्रधान साधन बन जाते हैं। फिर भी अयोग्य एवं अनुपपन्न शब्दों में अल्पनिहित योग्य एवं उपपन्न शब्द परस्पर लक्षणा प्रसम्बद्ध नहीं हैं। मन्ने धीर उक्ति में लीन्यर्थ इसी अयोग्य (सांख्यिक) शब्द के प्रयोग से ही आता है। हम हम सम्बन्ध में यह बात अक्षय ध्यान में रखनी होगी कि वे उक्ति बहिष्कृत को ही सर्वस्व नहीं मानते। उनकी धारणा में मात्र प्ररित तथा आभासेप करने वाली ही उक्ति काव्य क्षेत्र में उपादेय है। वेदस विचित्रता काव्य भाषा में गौरव्य नहीं ला सकती है उसके मूल में किमी-न-विस्ती मात्र के योग की अनिर्वाह आवश्यकता है। इसीलिए वे यह कहते हैं—“बहुत-सी अल्पम मात्रिक और भावपूर्ण कविताएँ ऐसी होती हैं जिनमें भाषा कोई बरामूया या अपर्य नहीं बनानी अथ अपने लुपे रूप में ही पूछ रणामक प्रभाव डालते हैं। उनकी दृष्टि में काव्य में योग्य शब्द होना आवश्यक चाहिए—योग्यता चाहे लुपे हो या सिद्धि हो।”

गुरुजी का विश्वास है कि अक्षय अयोग्य धीर अक्षय प्रभाव की ओर भी कभी-कभी काव्य के प्रयोग की साम्प्रदायिक रक्षनी है जैसे दोहोत्म्य या विद्योप विहित के प्रभाव में शोक की विह्वलता या विद्या की अनादुता ही योग्यता है। रीतिवादी के आचार्य कविदेव ने अमिता को ही उत्तम काव्य कहा है। उनका भी उनकी दृष्टि में यही शब्द है कि आख्याय को ही देव ने आख्याय का कारण माना है अर्थात् उत्तम ही काव्य का रचनीयता रहती है।

गुरुजी आख्याय धीर अक्षय का शब्द में सीधा धीर निर्य का सम्बन्ध मानते हैं पर अक्षयता का अर्थ अक्षय आख्याय के द्वारा होता है।

इनके अनिश्चित उनके सिद्धांत में लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ का स्वरूप मात्र होना है और व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से पृथक् धर्म होता है।

व्यंग्यता के सम्बन्ध में उन्होंने इस बात पर विद्येय बल दिया है कि वस्तु व्यंग्यता और भाव व्यंग्यता दोनों भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ हैं। साहित्यकारों ने जो इन दोनों में भिन्नता कही है वह पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। वस्तु व्यंग्यता और भावव्यंग्यता में कल्पन इतना ही अन्तर कहा गया है कि एक में—वस्तु व्यंग्यता में—वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ पर ध्यान का पूर्वपरि बल धोला वा पाठक को लक्षित होता है। दूसरी में—भावव्यंग्यता में—बहु बल होने पर भी लक्षित नहीं होता है। सुवचनी इन दोनों में कल्पन इतना ही अन्तर नहीं समझते बं तो भावव्यंग्यता को मन्त्रवा भिन्न कोटि की वृत्ति मानते हैं। उनका कथन यह है कि भाव या रस के सम्बन्ध में व्यंग्यता अन्त का प्रयोग ही अनुचित नहीं है क्योंकि भाव की अनुभूति को व्यंग्यार्थ नहीं माना जा सकता है। यदि व्यंग्य कोई धर्म होया तो वस्तु या तथ्य ही होया। वस्तु व्यंग्यता में त्रिस प्रकार वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुँचने की बात कही जा सकती है ठीक उसी प्रकार रसादि की अनुभूति के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती है। वस्तु रति वा बोध कर रहा है इन प्रकार के व्यंग्यार्थ के ज्ञान में रति वा बोध की रसात्मक अनुभूति नहीं हो सकती है। रति बोध धारि भावों का अनुभव करना एक धर्म से दूसरे धर्म तक पहुँचना नहीं कहा जा सकता अतएव भाव की अनुभूति को व्यंग्यार्थ नहीं कहा जा सकता है। इन प्रकार शुक्लजी ने व्यंग्यता के दूसरे भेद भाव व्यंग्यता पर ध्यान दिया है और इस बात की ओर साहित्य मीमांसकों का ध्यान आकर्षित किया है कि यदि भाव या रस को व्यंग्यार्थ मानना है तो रसादि भाव का ज्ञान आस्वादि पदों तक किम प्रक्रिया में पहुँचना है इन प्रश्न का समाधान देना पड़ेगा। इस सम्बन्ध में उन्होंने कथन इतना ही यह किया है कि वह एक भिन्न प्रकार की वृत्ति है। भविष्य के साहित्य मीमांसकों को इस सम्बन्ध में अपनी विचार परम्परा जारी रखनी चाहिए।

रीति—एक विभाग में एक विद्यास प्रणाली का धर्म ही लिया जा

सकता है। प्राचीन छात्रार्थों द्वारा प्रतिपादित रीति तत्त्व का समावेश भी हमी शब्द विधान के अन्तर्गत माना जा सकता है। मुस्मजी भी 'रीति तत्त्व' को उसी रूप में स्वीकार करते हैं जिस रूप में साहित्य वपनकार विरचनात्मक न स्वीकार किया है। वे रीति को काव्य का अंगीर मानते हैं। जैसे मानव अंगीर में कई घसों-प्रस्यसों का परस्पर सम्बन्ध होता है उसी प्रकार काव्य के अंगीर का सम्बन्ध कई शब्दों के विभिन्न विन्यास में होता है। मुस्मजी की धारणा है कि काव्य प्रथम में रीति तत्त्व की अर्थात् माद मीन्द्र्य की दृष्टि में की गई है। इस तत्त्व की उपेक्षा करना वे उचित नहीं समझते। फिर भी इन काव्य की धारणा नहीं माना जा सकता है। इसी विन्दी भाव के प्रभाव की पूर्णता उत्पन्न करके क मित् विभिन्न बर्ण विन्यास पर्याप्त उपेक्षा की जा सकती है। उनका यह मिथ्यात्व है कि जिस प्रकार मूर्त विधान के लिए काव्य विरचिटा की प्रथमी का अनुसरण करना है उसी प्रकार बाद सीत्त्व के लिए वह बहुत-बहुत मयात तत्त्व का भी महारा लेता है। माद-सीत्त्व के विभिन्न रूप-विभिन्नता को इतना महत्त्व नहीं दिया जाता क्योंकि कि काव्य की धारणा भाव की ही उपेक्षा हो जाए।

अन्तर्कार—अन्तर्कार भी अन्तर् विधान अर्थात् काव्य अंगीर में ही सम्बन्ध रखते हैं। इन्हें काव्य के अन्तर्गत में स्थान दिया जा सकता है। मुस्मजी की धारणा के अनुसार काव्य में प्रस्तुत के अतिरिक्त अस्तुत भी अन्तर्गत होता है। यह अस्तुत रूप विधान अस्तुत अथ अस्तु या ध्याता की भावना को अतिरिक्त रूप तथा उत्पन्न रूप देने के लिए किया जाता है। अन्तर्गत अर्थ अन्तर्गत तथा अस्तुत रूप विधान अन्तर्कार का एक प्रमुख विषय माना जाएगा। अन्तर्गत पाठ्यालय अन्तर्गततावाद धारि काव्यधारी के अन्तर्गतता की दृष्टि में कई मीन्द्र्य यह बहुत है कि अन्तर्कार कोई चीज नहीं उनका अन्तर्गत रूप। मुस्मजी ऐसे लोगों के भाव महामन नहीं। वे अन्तर्कार के अन्तर्गत भी नहीं मानते कि अन्तर्कार अन्तर्गतता या अन्तर्कार के अन्तर्कार कोई अन्तर्गत नहीं। उनको यह धारणा है कि अन्तर्कार अन्तर्गतता का अन्तर्गत नहीं मानता है। अन्तर्कार के अन्तर्गत ही अन्तर्गतता

हो उसकी वह म कोई प्रस्तुत धर्म समकार्य प्रवश्य होता चाहिए। जैसे व्ययार्थ के साधारण पर प्रयोग एक अनुपपन्न व्ययार्थ को भी व्यय म महत्त्वपूर्व स्वात मिल जाता है इसी प्रकार समकार्य प्रस्तुत धर्म के साधारण पर समकार्यों को भी व्यय म समुचित स्वात दिया जा सकता है। धर्मिप्राय यह है कि प्रस्तुत धर्म के बिना किसी उक्ति की समीचीनता का निर्णय नहीं हो सकता और न ही उसकी समीचीनता का बर्णन ही किया जा सकता है।

शुक्लजी की दृष्टि में समकार्य विभिन्न समस्तुत वस्तु-विधान और प्रस्तुत वस्तु के वर्णन की विभिन्न प्रणामियाँ हैं। ये सात रूप हैं साम्य नहीं। साम्य में प्रस्तुत वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करते और भाव को धार्मिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए ही इनकी आवश्यकता है। इसके द्वारा साम्य में प्रभावोत्पादकता का पुन उत्पन्न होता है। वे समकार्य तीन रूप में प्रयुक्त होते हैं—१ समस्तुत वस्तु-योजना के रूप में २ व्यय बन्धन के रूप में ३ धर्म विश्वास के रूप में। इन तीन ही रूपों में इनका उत्पन्न केवल प्रस्तुत भाव या भावना को उत्पन्न रूप प्रदान करता ही है।

धर्म्य वस्तु और वर्णन प्रणाली दोनों मिल्न-मिल्न जाने हैं। कुछ प्राचीन साम्य समीक्षकों ने 'धर्मकार्य' धर्म का प्रयोग बहुत व्यापक धर्म में किया था। उन्होंने धर्म्य वस्तु और वर्णन प्रणाली का एक ही प्रकार ही साम्य सामग्री के रूप में उल्लेख किया है। बीरे-बीरे यह धर्मस्वा दूर होती चली गई और साहित्य धर्मकार्य साधारण विश्वनाथ तक पहुँचते-पहुँचते धर्म्य वस्तु और वर्णन प्रणाली का धर्म स्वीकार कर लिया गया और पूरक तत्त्व के रूप में समकार्यों की विशेषता की जाने लगी। फिर भी धर्म तक कुछ ऐसे समकार्य हैं जो वास्तव में धर्म्य वस्तु का निर्देश करते हैं जैसे स्वभावोक्ति धर्म्य वस्तु का निर्देश करना समकार्य का काम नहीं है। इसीलिए शुक्लजी स्वभावोक्ति को धर्मकार्य नहीं मानना चाहते। 'स्वभावोक्ति' के लक्षण से ही यह बात स्पष्ट की जा सकती है। जिसमें वास्तविकों की निजकी किया या रूप का वर्णन हो वह स्वभावोक्ति कह

साता है। दूसरे शब्दों में सृष्टि की प्रस्तुतियों के रूप धीरे धीरे व्यापार का वर्णन स्वभावबोधित है। इस लक्षण के अनुसार जब किसी भाषण की रूप खेपटाघो का वर्णन किया जाएगा तब उस स्वभावबोधित कहा जा सकता है। वास्तव में यह वर्णन काव्य के भाषण के घटनघटन है। कलापता के नहीं। पाठक के हृदय में वास्तव्य भाव की रसात्मक प्रस्तुति के लिए वास्तव के रूप धारि का वर्णन वास्तव्य विभाव के अन्तर्गत ही उमरो के खेपटाघो का वर्णन उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत माना जाएगा। इस वर्णन को घटनघटन धर में नहीं माना चाहिए। यह स्पष्ट है कि मुक्तजी घटनघटनों को काव्य का संबंध नहीं कहें। वे तो मुक्त प्रस्तुत घटन के मोक्ष को बताने वाले हैं। वे कहते हैं कि मुक्त घटन की घोषा बताने में जो घटनघटन प्रस्तुत नहीं वे वास्तविककार नहीं। वे एते ही हैं जैसे मरीच पर से उतर कर किसी घटन कोने में रखा हुआ पत्थर का रंग। किसी भाषण में वास्तविक भावना में घटन प्रस्तुत घटनकार कलाकार या लक्ष्य है।

घटनघटन वास्तव में घटनघटन स्व-व्यापार के विधान हैं। यह मारा विधान काव्य भावना के आधार पर ही होता है। मुक्तजी में इस काव्य भावना का भी स्पष्ट करने का यत्न किया है। कथन घटन या नाम की समानता के आधार पर ही यह अस्तुत घटन विधा भाषण भाषाबोधक नहीं हो सकती। यह तो केवल भाषणघटन कलाकार पूर्ण लक्ष्य या लक्ष्य ही है। अर्थ की समानता पर ही जो घटनघटन उपमान भाषण आर्थिक या लक्ष्य काव्यव्यापारी माने जाएंगे जब वे प्रस्तुत के मोक्षय धारि की भावना में कुछ कृति करेंगे। मित्र कविता की दृष्टि में ही घटनघटन की धोर आती है जो प्रस्तुत के लक्षण ही मोक्षय धारि वास्तविक वास्तव्य प्रस्तुत भाषणता उद्योग उद्योगी विद्युत इत्यादि की भावना जवाने हैं। जैसे वाणी धारि के जोष की भावना को स्पष्ट करने में लक्ष्य धारि के उपमान के रूप में लक्ष्य कलाकार के लक्षण पर लक्ष्य धारि का विधान धारि उपरुक्त हाया। रूप रूप की घटन या विधा की समानता की भाषण धारि धारि घटन घटन हा जो की प्रभाव की लक्षण के आधार पर धारि प्रस्तुत घटन की जाणनी को

बहु काम्योपयोगी मानी जायवी और वही अन्तकार का जो रूप उपस्थित होना बहु काम्य की धाम्ना-भाव को काम्य के सरीर-रज्जु विधान को अन्त कृत करने वाला होकर उपादेय समझ जायगा ।

काम्य धाम्ना—युक्तजी ने काम्य भाषा की सबसे पहली विशेषता 'साक्षात्कता' स्वीकार की है । इसी ने बापा में अन्तमयता बुझ का धारि मति होता है । काम्य भाषा में कुछी विशेषता ऐसे अन्त संपूर्ण की रहती है जिनमें किसी विशेष रूप या व्यापार की नुचनता मिलती है । तीसरी विशेषता वर्ण-विन्यास के विशिष्ट रूप से उत्पन्न होती है । अन्त विधान में प्रयुक्त वर्णों की समान रूपता धारिण धारि से एक ऐसी नय की सृष्टि जाती है जो कि काम्य भाषा में नार सौन्दर्य उत्पन्न करके समस्तसिनी बना देती है । अन्तकार प्राम इसी वर्ण-विन्यास के धारिण पर कल्पित किये गए हैं । चौथी विशेषता अक्षरों के नामों के स्वान पर उनके रूप-नुच या अर्थ बोधक धारि के व्यवहार से उत्पन्न होती है । यदि ऐसे अन्तों का प्रयोग स्वाभाविक धारि अर्थ अन्तित हुआ तो इनसे नुचने वाली नौ भाषना के निर्माण में पर्याप्त उपयोग लिया जा सकता है ।

काम्य के धारि—युक्तजी ने काम्य के धारि का उल्लेख करते हुए दो धारिण कल्पित किये हैं—१ अन्तजन २ अर्थबोध । यदि अन्तजन से लोक अर्थ वा धाम्ना का अर्थ प्रकृत किया जाए तो धाम्ना की अर्थता एवं रूप धारि ने काम्य के दो धारि हो जायेंगे । १ धाम्ना की सिद्धावस्था वा अर्थ-योग पक्ष को लेकर अन्तने वाले काम्य २ धाम्ना की साक्षात्कता वा अर्थ-पक्ष को लेकर अन्तने वाले काम्य । काम्य के इन दोनों रूपों में से धाम्ना की साक्षात्कता का लेकर अन्तने वाले काम्य युक्तजी की अर्थ धारि प्रकृति के अधिक प्रयुक्त है । ऐसे ही काम्य में जीवन की अनेक परिस्थितियों का अन्त अन्तित किया जा सकता है । जीवन के प्रकाश और अन्तकार पक्ष इसी रूप में मिल सकते हैं । इनके अन्तितक धाम्ना के सभी धारि का साक्षात्कार ही इसी रूप के द्वारा हो सकता है । ऐसे काम्यों का अर्थ मान कराने होता है अन्त अन्तसे ही वास्तव में धाम्ना-अर्थ का विधान हो सकता है । अर्थम

का विधान करने वाले कर्त्तव्य और प्रेम से ही भाव उत्पन्न है। कल्या की प्रति
रक्षा की ओर हामी है और प्रेम की रचना की ओर। साक म प्रथम माध्य
रक्षा है। रजस का व्यवहार उसके पीछे आता है। इसीलिए साधनावस्था
या प्रथम पद्य को लेकर चलन बात काव्या का प्रमुखता दी जा सकती है।

काव्य-विभाग का दूसरा आधार अर्थ-बोध है। काव्य के मुख अर्थ में
कल्पित अर्थ भाष की प्रधानता रहती है। यह अर्थबोध भाव अन्तःकरण में अर्थ
नित होकर ही काव्य का आधार बन सकता है। अर्थ और भाव के सम
त्व की मात्रा की विभिन्नता के आधार पर भी काव्य के तीन भेद मुख्यतः
में किये हैं—१ शब्द काव्य २ दृश्य काव्य ३ कथात्मक अथ काव्य
४ वाक्यात्मक अथ प्रबन्ध या लेख ५ विचारोत्पन्न अथ काव्य या लेख।

अर्थ काव्य कविता—कविता के स्वभाव पर अवलोकन से यह विचार
में विचार किया है। कविता ही काव्य का वह अर्थ है जिसमें भाव अन्तःकरण
की मात्रा अर्थ से अधिक होती है। इस अर्थ में काव्य का वाक्यों
में से भावोन्मेष अथवा अन्तःकरण अन्तःकरण ही प्रधानता प्राप्त कर लेता
है। अर्थ बोध का वहसा अर्थ ही अर्थ से रहता अर्थ है अन्तःकरण अर्थ का
की प्रति परीक्षा अर्थ से ही की जाती है। मुख्यतः में कविता का वह अर्थ
दिया है—

“हृदय की मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की बानी जो अर्थ-विधान
करती आई है उसे कविता कहते हैं।”

मुख्यतः के इस अर्थ में प्राचीन भारतीय ग्यानुमुनि का अर्थ स्पष्ट
अर्थ है। इसके अनिर्दिष्ट अर्थवाच्य दृष्टिकोण में भी इसकी विवचना
की जा सकती है। हृदय की मुक्ति का अर्थ भाव अर्थ के अर्थवर्णन मात्रा
जा सकता है। ‘अर्थ विधान’ को अर्थवाच्य का अर्थवर्णन माना जा सकता
है क्योंकि अर्थवाच्य का अर्थ अर्थ विधान में अर्थवर्णन है। ‘मनुष्य की बानी’
से अर्थवाच्य को अर्थवर्णन किया जा सकता है। इस अर्थ पर अर्थवाच्य-अर्थ
अर्थ के आधार पर अर्थ अर्थ कविता अर्थ की अर्थवाच्य की अर्थवर्णन
आधार होता है कि अर्थ अर्थ अर्थ की अर्थवाच्य की अर्थ है। अर्थवाच्य के

उनके विचारों का यदि अनुगीमन दिया जाए तो इस बात की पुष्टि नहीं होती। उन्होंने अपने लक्षण में 'हरम का रहस्य करके बुद्धि तत्व का भी समावेश कर लिया है। क्योंकि वे ज्ञान प्रसार के भीतर ही भाव प्रसार स्वीकार करते हैं। इसके प्रतिरिक्त भाव के स्वभाव के प्रथम सवयन के रूप में उन्होंने सर्व बोध को स्वीकार किया है। इस प्रकार भाव के साथ ज्ञान का योग स्वतः सिद्ध ज्ञान के कारण 'हरम' के रहस्य से भाव और विचार दोनों तत्वों का निर्बलन हो गया है। कविता के रूप में भाव की प्रधानता रहने के कारण उसका ही प्रत्यक्ष रहस्य कर लिया गया है।

इस लक्षण में 'अन्वेषणता का भी उल्लेख नहीं हुआ है। इसका यह समिप्राय नहीं कि वे कविता के लिए 'अन्वेषणता' को आवश्यक नहीं समझते। इस सम्बन्ध में उनकी उक्ति प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है—

'अन्वेषण (Rhythm) के विषय में विचार करते समय इतना धनस्य ध्यान रखना चाहिए कि कविता एक बहुत ही पूर्ण कला है। इस पूर्णता के लिए वह संवीर्य और विचित्र कला दोनों की पद्धति का बोझा-बहुत उद्धार लेती है। अन्वेषणता में बँधी हुई लय के भीतर विन्न-विन्न ढाँचों का योग है जो निर्दिष्ट सम्झाई का होता है। लय-स्वर के बजाय-उत्तार के छोटे-छोटे ढाँचे ही हैं जो किसी छन्द के चरण के भीतर ग्यस्त रहते हैं।

अन्वेषण के प्रत्येक ढाँचे की मात्रा और उनके परस्पर योग की मात्रा का निर्धारण कर देता है और उन प्रकार कविता के लय स्वर से पाठक भी परिचित हो जाता है। अन्वेषण लय के अभाव में रहने से पाठक कवि के लय संवेदन की अनुमति नहीं कर सकता है। इस कारण से वह स्पष्ट है कि शुक्लजी छन्द के अर्थ का अर्थमा अर्थ उपाय नहीं समझते। नए-नए ढाँचों के विधान में उनको कोई प्राप्ति नहीं है। चरणों के छोटे-बड़े रहने में भी उन्हें कोई प्राप्ति नहीं है। वे विन्न-विन्न छन्दों के दो-दो चरण रखते हुए रचना करने में कोई हानि नहीं समझते। जो कविता में केवल लय से उत्पन्न होने वाले लय संवेदन को ही पर्याप्त समझते हैं उनसे शुक्लजी छन्द-

मठ नहीं है। व इध बाठ मे भी कोई सार नहीं समझते कि छन्द के बन्धन मे बिचार के पर बँध आने है और कल्पना के पर सिमट जाते हैं। व कहते हैं कि छप्पीबन्ध रचना करने वाले महाकवियों के मात्र और बिचार बड़ी स्वच्छन्दता मे कविताओं में स्थान पाते रहे हैं।

कविता और बार्—गुरुनजी की चारणा के अनुसार सच्ची कविता किसी धार्मिक 'बार्' को लेकर नहीं चलती। वह तो उम हृदय के भावों का समावेश करता चाहती है जो इस व्यक्तन जगत् के नाता क्यों और व्यापारों के प्रति उत्पन्न होते हैं। धार्मिक बार् तत्त्व चिन्तन के—बुद्धि प्रमाण के—परिणाम होते हैं। ये ज्ञान क्षेत्र के विषय हो सकते हैं। कविता में ज्ञान को प्रवेश तभी मिस मचना है जब कि उसका आधार लेकर कल्पना या भावना उठ लड़ी होती है अर्थात् जब उसका आधार भावपल में होता है सम्यक् नहीं।

रहस्यवाद—यदि यम्मीरता मे उनकी चारणाओं का विश्लेषण किया जाए तो हम देखेंगे कि वे हिन्दी काव्यपाठ मे रहस्यवादी चारा के प्रचलित होने के विरोधी नहीं परन्तु वे इसे काव्य का सामान्य स्वरूप स्वीकार करता नहीं चाहते। इसके अनिश्चित व इसे रहस्य भावना के रूप में ही ग्रहण करने को उद्यत हैं एव धार्मिक बार् के रूप मे इसे काव्य मे स्थान देना नहीं चाहते हैं। उनकी चारणा के अनुसार प्राथमिक रहस्यवाद जगत् की धर्मि व्यक्ति मे लटम्प है वह जीवन मे धाबभूमि मे निर्दोष है, उममे कल्पना की भूमी कलाबाजी है भावों की लक्ष्मी उल्लस-कूर और वैविध्य-विचारक बुद्धि वार्यमंगी है अतएव वे इसे इसी रूप मे काव्य के सामान्य स्वरूप के क्षेत्र मे नहीं देखना चाहते।

रहस्यवाद के प्राथमिक के सम्बन्ध में श्री गुरुनजी कहते हैं कि धार्मीय तथा यूनानी तत्त्व चिन्तकों धार्मिकों द्वारा प्रतिपादित धर्मवाद मार्मी पैम्बरी मनों—सहृदी ईसाई, इस्लाम में रहस्यवाद के रूप में प्राथमिक हुआ अर्थात् इन मनों मे मानव की स्वाभाविक बुद्धि का धर्म विधेय स्थान नहीं है। भारतवर्ष में यह धर्मवाद ज्ञान क्षेत्र में ही स्थान प्रचार

कर सका । भारत में वर्जित के तानाशाहों को काब्यध्वज में घसीटने की प्रथा नहीं । घड़ेत विविष्टाईत गुडाईत इराबि अनेक केदास्तीबाब प्रथमित रूप पर काव्य लेख में भक्ति काव्य में भी बंधुर ही रह गए । निर्दुष सम्प्रदाय के कबीर धारि ने मूर्खिया की तकल पर घईतबाब मायाबाव प्रति शिम्बबाद बाबि दार्शनिक बावों के तन्वों की व्यजना विभिन्न रूपका साध्य बसान रूपको तथा मय्याक्तिया के माध्यम से करते रहे हैं । ब्रह्म माया पनेत्रिभ्र जीवात्मा परमोक बादि को लेकर कबीर ने जो अनेक मूर्धस्वरूप अड क्रिये में प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं । निर्दुष सम्प्रदाय के कवियों की कुछ रूप योजनाएँ ऐसी भी हैं जिनमें सर्वस्वीकृत सर्वानुभूत तन्वों को भाव क्षेत्र में साने का प्रयास दुष्टिबोधर होता है । ऐसी रूप योजना उच रूप योजना से जिसमें केवल घईतबाब के स्पष्टीकरण का ही प्रमाण है— यथिक मर्मस्पर्दिनी है घतएव इते काव्य क्षेत्र में महत्त्व दिया जा सकता है । मुक्तजी का कथन यह है कि बाद या सिद्धांत के रूप में प्रतिपादित बातों का स्वभाव तिष्ठ तन्वों के रूप में विधित करना और उनके प्रति अपने भावों का वेग प्रवर्धित करके तन्वों के हृदय में उच प्रकार की धनु मूर्ति उत्पन्न करने की चप्य करना सर्वे कवि का काम नहीं । मनुष्य के हृदय को उच प्रकार स्वाभाविक मार्ग से हटाकर इतर-इतर भटकाने की चप्य करना व उचित नहीं समझते ।

घईतबाब के दो पक्ष कल्पित किये जा सकते हैं—धात्मा और परमात्मा की एकता तथा ब्रह्म और जगत् की एकता । दोनों मिसकर सर्वबाब की प्रतिष्ठा करते हैं । रहस्यबाब के मूल में प्राक् के तीनों ही रूप विद्यमान हैं । मुक्तजी के विरोध का अधिकतर आधार पहले दर्जान् धात्मा और परमात्मा की एकता का पक्ष ही है । यह पक्ष कुछ रूप से ज्ञान क्षेत्र का विपक्ष है । परम पररुच तथा बोरोप में उच पक्ष को रहस्यजाबना के रूप में ब्रह्म कर लिया गया और परिणामस्वरूप रहस्योन्मुख मुक्तियों और पुराने कौब निक ईतार्द अकतों की साधना समाप्त रूप से भासुर्प जाब की ओर प्रवृत्त हुई । इन बजार उच अजात सम्यक एव मनोबह ब्रह्म के प्रति प्रेम और मिलन की

अभिमाया को लेकर ध्यात्म निवेदन प्रारम्भ हुआ। धुक्लबी के विरोध की मूल मुक्ति यही है कि तत्त्व वृष्टि से मनोविज्ञान की वृष्टि से साहित्य की वृष्टि से अज्ञात के प्रति प्रेम या मातृसा सम्बन्ध नहीं है। ये दोनों हृदय की अन्तर्भूतियाँ हैं। इनका सम्बन्ध और अयोचर से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है। अन्तः और अयोचर के प्रति ही इन मातृसाओं का प्रकाशन हो सकता है। प्रेम के लिए परिचय चाहिए—चाहे पुरा—चाहे अचूरा। इसी प्रकार मातृसा मिलन की अभिमाया भी ऐसी वस्तुओं के प्रति होती है जिसकी प्राप्ति या साक्षात्कार से मूल और ध्यानन्द होता है फलतः अन्तः और अयोचर के प्रति मातृसा का प्रयत्न ही नहीं सकता। अतः धुक्लबी कहते हैं कि बिना तन्मय का हमें ज्ञान नहीं जिसकी अनुभूति से वास्तव में हमारे हृदय में स्थान नहीं हुआ उसकी स्पन्दना या आडम्बर रचकर हमसे का समय बर्ण करना उचित नहीं है। ऐसे लोगों को तो काव्य शोध से निकल कर साम्प्रदायिकों के बीच में जाकर ही अपना हाव-भाव प्रदर्शित करना चाहिए। अन्तः और अन्तः ब्रह्म की भावना के लिए भी अज्ञात या अन्तः की ओर झूठे हमारे करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उनका यह कुछ विश्वास कि अज्ञात की जिज्ञासा का तो कुछ अर्थ हो सकता है उसकी मातृसा या प्रेम का नहीं। भारतीय वृष्टि के अनुसार भी अज्ञात और अन्तः के प्रति केवल जिज्ञासा ही हो सकती है। जिज्ञासा और मातृसा में अन्तर होता है। जिज्ञासा केवल अज्ञेय वस्तु के स्वरूप को जानने की इच्छा मात्र है। अज्ञेय वस्तु के प्रति राम द्वय प्रेम पादि भावों का उसका नाम कोई भीया सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत मातृसा रति भाव का अर्थ है। अतः यह स्पष्ट है कि एक का सम्बन्ध अज्ञेय के साथ और दूसरी का सम्बन्ध भाव के साथ है। इसी आधार पर धुक्लबी अन्तः ब्रह्म की जिज्ञासा को तो स्वीकार करने को उद्यत है परन्तु उसकी मातृसा का नहीं। वे अन्तः अन्तः अन्तः और अज्ञात की अभिमाया का सर्वथा विदेशी बसना ही मानते हैं। श्री गङ्गाधर्य के अन्तः परम में अज्ञेयता के लिए योगाधि तन्मय ब्रह्म की ही प्रतिष्ठा की है अन्तः परमार्थिक मत्ता की नहीं। हमारे अन्तः

में थी लकर ने यह प्रतिपादित किया है कि अत्यन्त निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म उपासना के व्यवहार में समुप ईश्वर हो जाता है। अत उपासना जब होती तब अत्यन्त और समुप की ही होती। इस प्रकार काव्य क्षेत्र में भी यदि ब्रह्म के प्रति भावों का प्रकाशन होया तो ब्रह्म के मूर्त एव अत्यन्त रूप 'अवत्' के प्रति ही होता।

यदि यह कहा जाय कि इस अत्यन्त अवत् में गुण और आनन्द गुण और शैत्य के साथ गुणा-विना रहता है। इसके प्रतिष्ठित गुण और आनन्द की भावा भी अवत् में इतनी स्वल्प होती है कि आनन्द गुण-शैत्य की आनन्दमग्न की पूर्णता की भावना करने के लिए अत्यन्त एव प्रतीतिक क्षेत्र में भावों के लिए विषय हो जाता है। इस सम्बन्ध में धूमनजी कहते हैं कि इन प्रकार की पूर्णता की भावना करने के लिए मानव के प्रतीतिक क्षेत्र में विचरने की आवश्यकता है, भारतीय नहीं। भारतीय कल्पना इस पूर्णता के लिए यदि नहीं गई है तो विशेषतया बौद्धों के भीतर ही गई है। या तो यह इस भूलोक के बाहर पर अत्यन्त अवत् के भीतर ही किसी अन्य लोक में गई है या इस भूलोक के भीतर ही परमार्थ के क्षेत्र में गई है। ये दोनों ही क्षेत्र मानव कल्पना के लिए स्वाभाविक कहे जा सकते हैं। पृथ्वी पर रहता हुआ भी मानव अत्यन्त अवत् की अत्यन्तता का प्रकाशन अनुभव करता रहा है। अत्यन्त आकाश के बीच गलतों के बृहत्प्रमाण का देखकर मानव की कल्पना ने अत्यन्त लोको की सृष्टि की है और उन्हें स्वयं लोक या पुण्य लोक स्वीकार किया। इस प्रकार इन लोकों में मानव ने अपने आनन्दमग्न की पूर्णता की अत्यन्तता की भावना अत्यन्त प्रतीतिक क्षेत्र की अत्यन्तता की है। आत्मिक क्षेत्र में तथा काव्यक्षेत्र में इन प्रकार की भावना को अत्यन्त रूप से स्वाभाविक कहा जा सकता है और दिया जाता रहा है। इसी प्रकार परमार्थ के क्षेत्र में विचर कर भी मानव कल्पना को गुण-शैत्य की पूर्णता की भावना करने का अवसर मिल सकता है। निम्नवेद 'मतीय का धर्म' एक बहुत प्रथम भाव है। अतीत और हमारा साहचर्य बहुत पुराना है। उसे इन जाते हैं पहुँचते हैं, हमीलिए प्यार

करते हैं। घत सनीत के प्रति भावनाओं का प्रकाशन भी काव्य क्षेत्र में समुचित स्थान प्राप्त कर सकता है।

धार्मिक योरोपीय कविताओं में भूसोक के भीतर ही अबिष्य के गर्भ में कल्पना का भ्रमण करने मुक्त-सौन्दर्य की पूर्णता की भावना की जाती है। अबिष्य का मुक्त-स्वप्न उन कविताओं का प्रधान लक्षण है। यदि मन्मी रता से विचार किया जाए तो यह मुक्त-स्वप्न एक प्रकार से अबिष्य की उपासना या अबिष्य का प्रेम नहीं बल्कि अस्तुत वर्तमान जीवन का प्रेम ही है। अबिष्य का प्रेम धर्मशास्त्रिक है। जीवन प्रेम के सचारी रूप में उत्पन्न होकर धामा का भाव मानव के जीवन के पूर्ण सौन्दर्य धामन्य का दर्शन कराता है। उनी रूप में अबिष्य के मुक्त स्वप्नों को काव्य क्षेत्र में स्थान दिया जा सकता है। धार्मिक मुक्त-सौन्दर्य की धामन्यमय की पूर्णता की भावना के लिए स्वल्प जगत् के दलौय धमन्य एवं विस्तृत शेष का परिहारा करना सर्वथा विनीची कल्पनाएँ हैं। इन्हीं कल्पनाओं के आधार पर योरोपीय रहस्यवाद की प्रतिष्ठा हुई है। मुक्तजी जसी रहस्यवाद का विरोध करते हैं।

योरोपीय रहस्यवाद मुक्तजी की दृष्टि में साम्प्रदायिक रहस्यवाद है। मूर्धियों के प्रतिबिम्बका म ही उमे प्ररभा मिली है। मूर्धियों ने अपने धार्मिक विश्वासों के अनुकूल घई लकाव को प्रतिबिम्बवाद के रूप में ग्रहण किया। इस बार के अनुसार यह भाव-रूपात्मक रूप जगत् का प्रतिबिम्ब है। बुद्ध जगत् में जो लाला रूप दिखाई पड़ते हैं वे तो धर्मिय है पर रूपों की जो भावनाएँ या कल्पनाएँ होती हैं वे धर्मिय नहीं हैं वे कल्पना विन मिल्य हैं। इन्हीं कल्पना विनों में इस आत्म जगत् को जान सकते हैं जिसे 'धामने रीच धीर' 'धामने रदाब' भी कहते हैं। मूर्धियों की धारणा के अनुसार धर्म मूर्धने पर किरी कल्पु का जो रूप दिखाई पड़ता है वही उस कल्पु की धारणा या भाव लला है।

मूर्धियों की उक्त धारणा के आधार पर इर्मैण्ड के रहस्यवादी कवि विविधम धर्म के अपने कल्पनावाद की प्रतिष्ठा की और यह कहा कि—

“कल्पना का लोक नित्य लोक है। यह पारबत और समन्त है। उस नित्य लोक में उन सब वस्तुओं की नित्य और पारमात्मिक सत्ताएँ हैं जिन्हें हम प्रकृति कपी दर्पण में प्रतिबिम्बित देखते हैं।”

सुकनजी कहत है कि मुष्कियों के कल्पनावाद के धनुस्वरूप की शक्ति ने वृक्ष जवत् से परे ‘परम कल्पना’ का प्रतिपादन ‘परम आत्मा’ के समान किया और मानव कल्पना को उस ‘परम कल्पना’ का ध्येय माना है। प्रकृति के नामा कर्णों को उसी की छाया कह दिया। इस प्रकार कल्पना को हम हाम बनाकर कविओं को पैयम्बर का रूप देकर काव्य के पुरीत क्षेत्र में पाखण्ड का रास्ता खोल दिया।

श्लोक के प्रद्वारम वर्ण पीछे एक प्रतीक रहस्यवाच उठा। उसमें भी कल्पना को यही इज्जतानी रूप दिया गया और बहु माना गया कि कल्पना बूंदरे के धल-करक म घडात रूप से प्रवेश पा लेती है। बीटे-बीटे धन्य रेष और धन्य काल की बदलाएँ देख लेती है। इस प्रकार प्रतीम-सतीम के राग की रूँद उठने लगती है। योरोपीय साम्प्रदायिक रहस्यवाद में श्लोक का कल्पनावाद कोष का अभिध्वंजनावाद तथा कल्पनावाद का सम्मिश्रण हुआ है। इस प्रकार का रहस्यवादी पूर्व गोचर को साम्ये पाकर धबोचर धर्मीतिक की धपनी मानना प्रकट करता है। कल्पना न धाग हुग रूप वस्तुत गोचर प्रकृति ही के हैं। हमारे मान वस्तुन बाह्य प्रकृति के गोचर रूपों ही के प्रति होते हैं इसीनिष्ठ कल्पना में धाई उनकी छाया भी हमें उपमान कर लेती है। बाह्य प्रकृति के गोचर रूप-व्यापार ही हमारे हृदय के तारों के धालम्बन होते हैं साम्प्रदायिक रहस्यवादी उल्ल कल्पनावाद का सहारा लेकर धनुमूर्ति के स्वामात्मिक भम का विपश्य कर लेते हैं धर्मान् के हमारे हृदय के मूल धालम्बनों को छाया और छाया को मूल धालम्बन बनाकर काव्य क्षेत्र में एक बहुत बड़ा धाडम्बर लड़ा कर देते हैं। इसी कारण ऐसे रहस्यवादियों के द्वारा की गई साक्षाभिध्वंजना धसुत्क तथा मही धककसी बाल पढ़ती है। यद्यपि रहस्यवादी की धन्य रूप-बोचना और उसके प्रति साक्षाभिध्वंजना बाह्य गोचर प्रकृति के ही धाकर्षण या प्रेम से प्रेरित होती है और उन्ही के

प्रति होती है, परन्तु वह पाठक के मन में अपनी साम्प्रदायिक भावनाओं का साधय लेकर ऐसी सूझी प्रतीति उत्पन्न करना चाहता है कि उनके माथ इन तमाकबिन छायात्मक कर्णों के प्रति सर्वथा नहीं है। यह तो इन कर्णों के परे जो अनाथर और अश्वत्थ पारमाधिक सना है उसके प्रति है। अपनी इसी असाध्य भावना को प्रकट करने के लिए वह अभिष्यजना रीति में भी अपनी किकता अस्वभाविकता विचित्रता माने का यत्न करता है। भाषों की असाध्यता और अश्वत्थता की इसी कृत्रिमता के ही कारण गुणनजी की इस रहस्यवादी प्रकृति के प्रति विरक्ति उत्पन्न हुई है। आत्मन में वे स्वाभाविक रहस्य भावना के विरोधी नहीं हैं। अज्ञ और जगत् की एवता की अनुभूतियों में उन्हें सर्वथा की भ्रमक तथा सत्यता स्वाभाविकता की प्रतीति हुई है। इसी एवता का आधार लेकर बुद्धि प्रयास द्वारा प्रतिष्ठापित सर्व वाद का सहारा पाकर जब किसी अज्ञ कवि की मनोवृत्ति रहस्यान्वुषी होती तब वह अपने को जगत् के नाता कर्णों के महारे उस परीक्ष सत्य की ओर से बाठा हुआ जान पड़ेगा यह एक स्वाभाविक रहस्य मानना होषी। इस भावना के सामन्वय अथवा अज्ञ के ही होने। इसके लिए किसी छायात्मक कर्णों का सामन्वय कल्पित करना नहीं पड़ेगा। यह स्वाभाविक रहस्य भावना बड़ी समशील और मधुर भावना है। गुणनजी इसे अनेक मधुर और समशील मनोवृत्तियों में से एक मनोवृत्ति या अल्पदना (Mood) मानते हैं। अस्याम्ब अनुभूतियों के माथ सन्ने कवि इस मनावृत्ति का भी अनुभव कर सकते हैं।

स्वाभाविक रहस्य भावना का मूल—धुरमजी कहते हैं 'अज्ञान का एक मात्र ही अज्ञान ही को रहस्यान्वुष कर देता है। ज्ञान का एक अज्ञान प्रसार बुद्धि को नाता अज्ञान के अनुत्पन्न की ओर प्रवृत्त करता है और अज्ञान की अज्ञानता पर अनुत्पि अनुभव करता है उसी प्रकार 'अज्ञान का एक अनुत्पन्न को ज्ञान के प्रसार के माथ ही-माथ पैलने हुए अज्ञान के अज्ञान का अनुत्पन्न की ओर आकर्षित करता है। इस विधि में बुद्धि की अज्ञानता भी विमप तृप्ति प्रदान करने लगती है। इस विधि की विज्ञान

विभूति के भीतर धनेक ऐस दृश्य है जिसके प्रति मानव-भुक्ति प्रयास करने के अन्तर भी द्वार-बन्द जाती है उस समय वही भुक्ति उसे कुछ सम्पुष्टि प्रदान करती है। विद्वत् के बाला रूप मानव की कल्पना में विद्यमान धनेक धार्मिक कर्मों के आसन्न बन जाते हैं और इसे आनन्द मन्त्र करने सकते हैं। वही सन्धी रहस्य मानता है जो काम्य के लिए उपयोगी कही जा सकती है। वह एक प्रकार से जिज्ञासा से उत्पन्न होने वाली रहस्य मानता है। इसके साथ किसी साम्प्रदायिक मानना या वाद के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता है। इसके साथ तो प्रकृति के क्षण के किसी अधिष्ठाता सौन्दर्य का माधुर्य से उठ हुए धाह्य की अनुभूति का सम्मिश्रण रहता है। ऐसे सौन्दर्य के प्रति हृदय में उत्पन्न हुई उल्लुखता या अधिष्ठाता वस्तुतः व्यक्त या ज्ञात के प्रति ही होती।

जिज्ञासा से उत्पन्न रहस्य मानना कभी-कभी धर्मात् की ओर भी संकेत करती चलती है। ऐसी स्थिति में वह केवल धर्मात् की ओर धनिरिचत संकेत मात्र रहते हैं ता उसे काम्य क्षेत्र में प्रवृत्त किया जा सकता है। जब इस स्वाभाविक अनुभूति की सीमा से घाने बहकर कोई ठस धर्मात् को धर्मन्त और धर्मोत्तर कहने लगता है और उसका चिन्तन भी पूरे व्योरे के साथ करने लगता है तब एक प्रकार से वह अपनी विषय दृष्टि की क्षमता बह बहों पर प्रकृत करने का अनुचित प्रयास करता है। कारण यह है कि बुद्धिजी किसी वाद को धारण बनाकर इन रूप में चलने वाली रहस्यानुभूति को काम्य में स्थान नहीं देना चाहते हैं।

अधिष्ठातावाद—साम्प्रदायिक रहस्यवाद के मूल में बुद्धिजी के कल्पनानुसार इटली निवासी भोने का अधिष्ठातावाद भी है। अधिष्ठातावाद के मूल में कलाकार अर्थात् 'कला कला ही के लिए है' यह सिद्धान्त विद्यमान है। कलाकार यह कहता है कि जिस प्रकार बेल-बूटे और नकली का सम्बन्ध कला या जीवन की किसी वास्तविक वसा स्थिति या धर्म से नहीं होता वही प्रकार काम्य का भी नहीं होता। चित्रकार या कलाकार के मन में सौन्दर्य की आधनाएँ जिन रूप-रेखाओं या धारारों में प्रसफुटित

होती है उसी कर्तों और साधारणों को बहु बेल-बूटों और लकड़ादिया म
 परिष्कृत कर देता है। वे बेल-बूटें कल्पना की स्वतन्त्र सृष्टि होने हैं।
 ज्ञानके किसी वास्तविक तथ्य भाव या विचार के रूप में उनका अर्थ
 ईदना व्यर्थ है। अतः सर्व वे ही हैं। यही ज्ञान वाक्य के सम्बन्ध में भी
 समझनी चाहिए।

मुसलमी उक्त कारणों की स्वीकार नहीं करते हैं वे यह नहीं मानते
 हैं कि काव्य का प्रभाव या उद्देश्य सृष्टि निर्माण विभक्तता भवन निर्माण
 कला के समान केवल मनोरंजन होता है। इसी कारण वे काव्य को सामान्य
 कला के रूप में ग्रहण करना नहीं चाहते हैं। वे कला मात्र को काव्य समझना
 वही बेलना नहीं चाहते हैं। वे तो इसमें भी प्राणिमय पीछा छुड़ाना चाहते
 हैं। इस प्रकार वे प्राचीन भारतीय साधारणों का ही समर्थन करण हैं जिन्होंने
 काव्य को जीवन कलाओं में पृथक् मानकर ही उसकी मीमांसा की है। जोषे
 ने उक्त कलावाद की धारणा को राष्ट्रीय रूप देने का प्रयास अपने 'सौन्दर्य
 शास्त्र' में किया। इस प्रकार उसने अपने परिष्कृतकालाचार का प्रदर्शन
 किया और काव्य को कला के अन्तर्गत मानकर यह कहा कि परिष्कृतकाला में
 अलग कोई परिष्कृतकाला वा शब्द नहीं होता है। काव्य की उक्ति किसी
 दुमरी उक्ति का प्रतिनिधित्व नहीं करती है। इसी भाषा के अनुसार
 मानव की अन्तः प्रकृति के भाव शारीरिक बेलारें तथा बाह्य प्रकृति के
 विभिन्न रूप और व्यक्तार काव्य में उपादान सामग्री के रूप में है। इस
 अर्थमें वे उनमें परस्पर अन्तः-अन्तः या अन्तः-अन्तः का कोई
 अर्थ नहीं हो सकता है।

इसके परिष्कृत परिष्कृतकाला में परिष्कृतकाला के अर्थसाय को इस
 जगत् और जीवन में स्वतन्त्र-बाह्य प्रकृति और अन्तः प्रकृति में अन्तः-साधना
 की अन्तः निरी क्रिया माना गया है। जोषे ने अन्तः की दो क्रियाएँ —
 विचारार्थक और व्यवहारार्थक अन्तः की हैं। विचारार्थक अन्तः के भी दो
 अर्थ हैं—जाना सम्बन्धी ज्ञान और सर्व सम्बन्धी ज्ञान। जाना सम्बन्धी
 ज्ञान के अन्तर्गत सर्व ज्ञान अन्तः कला में अन्तः अन्तः—किसी

एक विशेष वस्तु का ज्ञान—मिया है। स्वयंप्रकाश ज्ञान मन में बिना बुद्धि की क्रिया के उठी हुई मूर्त-भावना है। यह मूर्त-भावना या कल्पना धारणा की अपनी क्रिया है जो द्रव्य-वस्तु के नाश-रूपों और स्थापारों को द्रव्य या उपादान की तरह लेकर हुआ करती है। कल्पना उस स्मृत द्रव्य को लेकर एक रूप-रूपी बना करती है और उस द्रव्य को सोचें में हासकर अपनी कृति को पोषण या व्यक्त करती है। इस प्रकार कला के क्षेत्र में यह रूपा (Form) ही सब कुछ है। द्रव्य या सामग्री खान देने की वस्तु नहीं। संज्ञे में यदि कहा जाए तो स्वयंप्रकाश ज्ञान का सोचें में हासकर व्यक्त होना ही कल्पना है और कल्पना ही मूल अभिव्यञ्जना है जो भीतर होती है और मन्त्र, रूप-धादि द्वारा बाहर प्रकाशित की जाती है। सोचें के अनुसार कला की अभिव्यञ्जना का कम निम्नलिखित रूप से कहा जा सकता है—

१ धारणा-संस्कार २ अभिव्यञ्जना-प्रकारण कला परक-प्राध्यात्मिक-मात्रता या कल्पना ३ सोचें की भावना में उत्पन्न-धानुबन्धक-धानन्द ४ कला-परक-प्राध्यात्मिक-वस्तु (कल्पना) का स्मृत-बीतिक-रूपों में प्रवर्तन।

उक्त चारों बिधानों के पूरा हो जाने पर अभिव्यञ्जना का अनुष्ठान पूर्ण हो जाता है। यह स्पष्ट है कि सोचें के इस अभिव्यञ्जना-कार में 'कल्पना-पक्ष' की प्रधानता ही नहीं है और उने ज्ञानात्मक कहा गया है। मुस्लिमी-भारतीय-सिद्धान्त के अनुसार कल्पना का मूल-रूप भावात्मक स्वीकार करते हैं। भावात्मक के मीन में ही कल्पना का स्वातन्त्र्य-विधान में माना जा सकता है। भाव द्वारा प्रेरित होकर भाव का प्रवर्तन करवाती कल्पना ही उनकी दृष्टि में काव्य-विधाविनी बानी जा सकती है। इसके प्रतिरिक्त कल्पना में उठे हुए रूपों को—प्रतीति-मान को ज्ञान कहना भी वे उचित नहीं मानते। इस प्रकार अपनी मिय-प्रवर्तना को ज्ञान की संज्ञा लेकर महत्त्व देने का प्रयास ही माना जा सकता है। इससे तो अपनी सामान्य-बैठीर-ठिकाने की प्रवर्तना भी ज्ञान की संज्ञा पाकर प्राध्यात्मिक या पारमात्मिक ज्ञान का कृत्रिम रूप धारण कर सकती है। मुस्लिमी कल्पना

में घाए हुए रूपों का बाह्य व्यक्त के रूपों की छाप ही मानते हैं उन्हें आत्मा की क्रिया नहीं मानते । जन्मान्तों और भौत वासा की कल्पना में इसी कारण पर्याप्त विषमता तिष्ठ की जा सकती है ।

कोचे की इस बात से भी मुकुन्दजी सहमत नहीं हैं कि प्रकृति के नाश रूप ध्यापार जीवन की निम्न-निम्न पटलए वा तप्य इत्य या उपाराम मात्र है अतः इनके प्रीचित्य-अनीचित्य के विचार की व्यावस्थिकता नहीं है । वे कहते हैं कि मोक्ष की रोति-नीति ध्यापार-व्यवहार की दृष्टि से अनीचित्य विरुद्ध प्रकृति बेल-बुटे नककाठी धारि की सौम्य भावना में तो कोई बाधा नहीं दालता पर कल्प्य वा प्रभाव कभी-कभी बहुत हलका कर देगा है । भारतीय रस सिद्धान्त की दृष्टि से यदि भाव-व्यञ्जना में भाव अनुचित है ऐसे के प्रति है जैसे वे प्रति न होना चाहिए तो रस बधा के लिए उपेक्षित ध्यापारणीकरण नहीं हो सकेगा योगा वा पाठक का हृदय उस भाव की रसात्मक अनुभूति ग्रहण न करेगा । यह स्पष्ट है कि मुकुन्दजी उर्गस्य के प्रतिष्ठ समासाधिक धार्मिक ए० रिचर्ड म क अनुकूप सहाचार में काव्य रसा का चिन्तन सम्भव स्वीकार करते प्रतीत होते हैं ।

कोचे कला में अनुभूति को महत्व देना चाहते क्योंकि अनुभूति के बुन्डारमक और बुन्डारमक दोनों परत होते हैं । काव्य में प्राप्त इन दोनों परतों की व्यञ्जना रहती है । यदि अनुभूति को महत्व दिया जायगा तो बुन्डारमक अनुभूति के लिए काव्य रचना या पटन व अथवा सम्भाव्यहारिक हो जाएगा । अतः काव्यानुभूति को भावानुभूति के रूप में स्वीकार ही नहीं करना चाहिए । मुकुन्दजी कहते हैं कि भाव द्वारा उपेक्षित प्रस्त बहुत पुराना है । भारतीय साहित्य ग्रन्थों में जो इन प्रस्त का समाधान प्रस्तुत किया गया है अथवा वह पूरा मन्तोवजनक नहीं है तथापि उनमें यह धारण तिष्ठ होता है कि काव्यानुभूति वा भावानुभूति के ही रूप में होनी है । उमें प्राप्त स्वल्प ही बढ़ा जाय इसके लिए मुकुन्दजी कोई विरल ध्यापार प्रवृत्ति नहीं करते हैं । वे बुन्डारमक अनुभूति की व्यञ्जना में अल्प अनुभूति - वा बुन्डारमक ही मानते हैं अर्थात् कल्पना भाव की अनुभूति में अल्प अनुभूति

बुद्ध के ही होते हैं आनन्द के नहीं परन्तु हृदय की सुखावस्था के कारण वह बुद्ध भी रसात्मक हो जाता है। इसी प्रसंग में वे यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि कोचे भी आधानुभूति से पीछा नहीं छोड़ सका है। वह इन्द्रिय को आवात्मकता कहता है (Matter is extrocity not aesthetically elaborated) इस आवात्मकता का यदि कोई धर्म हो सकता है तो यही कि मन में उचित बाह्य वस्तु के नाश वशों में भावों के उद्बोधन की शक्ति होती है। सुखसजी को काव्य इन्द्रिय की यह परिभाषा मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

घनकारो के सम्बन्ध में कोचे की यह चारणा है कि उक्ति से निम्न घनकार कोई वस्तु नहीं है। सुखसजी घनकारों और घनकार का भेद मानते हैं और कहते हैं कि उक्ति भले ही कितनी ही कल्पनामयी हो परन्तु उसके मुख में कोई-न-कोई प्रस्तुत धर्म प्रकट रहता है। इसी धर्म के आधार पर उक्ति के सौन्दर्य की परीक्षा सम्भव हो सकती है। काचे कला क्षेत्र में 'सौन्दर्य' शब्द से भी उक्ति के सौन्दर्य का ही धर्म मेठा है प्रस्तुत वस्तु के सौन्दर्य का नहीं। सुखसजी काव्य स्वरूप की दृष्टि से 'गुन्वर' शब्द का प्रभाव ही उचित नहीं मानते। इसके स्थान पर 'रमणीय' शब्द का ही प्रयोग करना चाहते हैं। 'गुन्वर' शब्द आद्यात्म्य की ओर संकेत करता है और रमणीय शब्द हृदय की ओर। यह 'गुन्वर' शब्द काव्यानुभूति के स्वरूप को ही संकुचित करता है। प्रत्येक कविता का बह्व्य सौन्दर्यानुभूति के रूप में नहीं होता अतएव सुखसजी सौन्दर्य धारण में काव्यजीवांश का प्रसंग उठाना उचित नहीं मानते हैं। उक्त धर्म बातों के आधार पर उन्होंने अतिरिक्ततावाद का विरोध किया है।

प्रतीकवाद—सन् १८८६ के अन्त में प्रतीकवादियों का एक सम्प्रदाय कांस में बना हुआ जिनमें प्रमुखे एड्सवार्ड और वाडोग्रादमरी शक्ति का बहाय दिया। इस बाद में प्रतीकों के सर्वसम्बन्ध सामान्य व्यवहार को अतिरिक्त रूप में प्रस्तुत करने का शब्द किया। इसी कारण उसने परोक्षवाद (Occultism) का उद्घाटन किया। प्रतीकों में आदोल्फोविनी शक्ति

उन बस्तुओं के स्वल्पवत् आकर्षण से विर-परिचित आरोप के बस से तथा बंधानुगत बाधना की बीज परम्परा के प्रभाव से उत्पन्न होती है जैसे बुद्धि-बिनी से मुग्धहास की जन्म से मुग्ध धामा की समुद्र से विस्तार और यन्त्रीरता की बीजा से बापी या बिद्या की जातक से निस्वार्थ प्रेम की प्रतीति स्वभावतः ही होने लगती है। प्रतीकवादियों ने इस स्वाभाविक प्रक्रिया को न ध्येताकर एक नवीन प्रक्रिया की कल्पना की है। इसके अनुराग मन के विस्तार से महामन का स्मृति के विस्तार से महास्मृति का उद्घाटन हो जाता है। इस महामन और महास्मृति का आह्वान प्रतीकों द्वारा उसी प्रकार हो सकता है जिस प्रकार ताँ बकों के द्वारा विविध बकों या यन्त्रों द्वारा देवताओं का। इन प्रक्रिया को स्वीकार करके प्रतीकवादी यह प्रतिपादित करते हैं कि प्रकृति के विभिन्न रूपों और व्यापारों का कवि अपनी रचना में उल्लेख करेगा व प्रतीकमान द्वारा। कवि की दृष्टि वास्तव में उन प्रतीकों के प्रति न मानी जाकर उन यज्ञात और परोक्ष शक्तियों के या सत्ताओं के प्रति मानी जाएगी जिनके व प्रताक होय। दूसरे पक्ष में यदि प्रकृति का वर्णन करेये तो उनका अनुराग प्रकृति के माना बकों के परदे के भीतर छिपी हुई यज्ञात और ध्येयवत् सत्ता के प्रति समझना चाहिए। इन प्रकार प्रतीकवादी काव्य की रचनाओं का सम्बन्ध व्यक्त पात्रिज जगत् से हटा लेते हैं कल्पना वाक्य का मध्य इस जगत् और जीवन में ध्येय हो जाता है।

मुक्तनी प्रतीकवादियों की इस प्रक्रिया को तथा लक्ष्य का यथावत् स्वीकार नहीं कर सकते परन्तु वे यह मानते हैं कि प्रतीक रूप में बस्तुओं का व्यवहार कविता में बराबर होगा था। हिंसा देवता का प्रतीक धामने धामे परजिम प्रकार उत्तम स्वल्प और उमकी विमृति की भावना तरास मन में धा जाती है उसी प्रकार काव्य में प्रतीक रूप में बर्णित बस्तुओं की मनोविकारों या भावनाओं को जवाने में समय ही जाती है। जैव जयम जगत् समुद्र आकाश जातक आदि प्रतीक रूप में बर्णित होकर सामुद्रार्थ तोम्बर्न की धामा की विस्तार की मूर्मता की तथा

निस्वार्थ प्रेम की व्यंजना कर देने हैं। काव्य में ऐसे प्रतीकों का व्यवहार होना चाया है और हो सकता है। इस सम्बन्ध में यह बात विधेय ध्यान रखने के योग्य है कि पाठों में ही प्रतीक सार्थकीय हो सकते हैं। निम्न-निम्न दोषों की परिस्थिति और संस्कृति के अनुसार प्रतीक भी निम्न-निम्न हुआ करते हैं।

प्रतीकों का व्यवहार भारतीय काव्य में प्रायः अर्थकार प्रभासी के भीतर हुआ है। इसका यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि दोनों प्रतीक और अर्थमान एक ही हैं। प्रतीक का अर्थ सादृश्य या सादृश्य नहीं होता अकिन्तु आशुबोधन की गति होती है। अर्थकार प्रभासी में प्रकृत उपमानों का अर्थ मुख्यतः सादृश्य और सादृश्य ही होता है। निम्न अर्थानों में प्रतीकत्व भी होता है इनमें काव्य की लोभा बढ़ जाती है। सारांश यह है कि अर्थहीन प्रतीक प्रयोग को काव्य में उचित समझते हैं, परन्तु वे इसे इतनी दूर तक समीक्षा नहीं करते कि यह एक बार का रूप बालक कर में।

सायावाद—इस प्रकार योरोप में प्रचलित सांस्कृतिक उद्भववाद धर्मिस्वयंता कथावाद तथा प्रतीकवाद के अनुक्रम पर हिन्दी कविता में 'सायावाद' नाम से एक बार प्रचलित हुआ। लड़ीशोनी हिन्दी की कविता अपने स्वाभाविक विकास क्रम के अनुसार अपने लचीले रूप को प्रकट कर रही थी। विशेषी बुध की इतिवृत्तात्मकता नीति मत्ता पीरे-पीरे दूर होती जा रही थी। ईश्वरीयान्त बुध मुकुटवर पाण्डेय शक्ति कई कवि लड़ीशोनी कविता को अर्थहीन अर्थहीन अर्थहीन तथा भाषानिष्पन्न रूप देने में प्रवृत्त थे। इसी समय लचीलता की उद्भववाद कविताओं की बुध अपने लचीले। वे कविताएँ वास्तविक अर्थ का धार्मिक उद्भववाद लेकर निष्पी लई थीं। बुधन ईसाई लन अपनी अर्थ साधना के द्वारा प्राप्त की हुई साधनाओं को धार्मिक भाग का अर्थहीन रूप हीत हुए नामा रूपों के वास्तव से अर्थहीन किया करते थे। इस अर्थहीन अर्थहीन को योरोप में अर्थहीन (Phantasms) कहा जाता था। इन ईसाई लनों की लानी का तथा योरोपीय काव्य लन में प्रचलित धार्मिक प्रतीकवाद का अनुकरण करके

को आधार बनाकर काम्य का तीतर भद्र मुक्तजी ने कथात्मक यद्य काम्य कहा है। कथात्मक यद्य काम्य का स्थान यद्य उपन्यासा और छोटी कहानियों में से लिया है। ये काम्य के इस रूप में भावोन्मेष की अधिकता उपादेय नहीं मानते हैं। इस रूप में धर्मबोध अपने प्रकृत रूप में अधिक विद्यमान रहता है। भाव-विधान का उचितवैशिष्ट्य की भावा प्रत्यक्ष ही रहती है। कथा प्रवाह के अन्तर्गत बटनाएँ ही पाठक का मन स्पृष्ट करती हैं। यद्यपि पाठों द्वारा भावों की मन्त्री-बीड़ी व्यवस्था प्रेषित नहीं रहती।

भारतीय कथात्मक यद्य काम्य अमंजुल और रसात्मक रहा है। इसके लिए बस्तुतः आधुनिक उपन्यास का बंधना के माध्यम से सामाजिकी का अधिक उन्मुख है। मुक्तजी उपन्यासा में जीवन के विविध पक्षों को विन्यस्त देखना चाहते हैं। अन्तर्दृष्टियों का यथासं स्वरूप पाठों की चेष्टाओं के रूप में व्यक्त करना उनकी दृष्टि में उत्तम है। सामाजिक उपन्यासों में जिस की सामान्य जीवन-पद्धति ही अस्मिता होती चाहिए। योरोपीय सम्प्रदाय के साथ में इसे हुए छोटे से समुदाय के जीवन का विश्रम अधिक मात्रा में नहीं होना चाहिए। ये उनकी चारखा के अनुसार आधुनिक जीवन के एक पक्ष तो हैं, परन्तु सामान्य पक्ष नहीं। ये छोटी कहानी को उपन्यास के समान ही प्रतिपादित करते हैं और उच्च अत्यन्त मार्मिक समझते हैं।

कथात्मक यद्यप्रबन्ध यद्यकाम्य—कथात्मक यद्यप्रबन्ध या लेख मुक्तजी की दृष्टि के अनुसार यद्य के बन्धन से मुक्त काम्य ही है। इसमें धर्म बोध नहीं तो प्रकृत और सीधे रूप में विद्यमान रहता है और कहीं भाव या अमलकार द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। ये साहित्य में इस प्रकार के यद्यप्रबन्धों का विविष्ट स्थान मानते हैं, परन्तु इनकी अधिकता को उपादेय नहीं मानते हैं। उनका विचार है कि इस प्रकार के यद्य प्रबन्धों की अधिकता से यद्य के विकास में तथा भाषा की अल्पता की दृष्टि में बहुत बाधा पड़ेगी।

निबन्ध—साहित्य के उच्च चारों रूपों में कल्पना प्रमुख वस्तु या धर्म की प्रधानता रहती है परन्तु निबन्ध रूप में विचार प्रमुख धर्म अंश होता

है। आप्तापसम्बन्ध या कल्पित अथ उसके घन रूप होकर आने है। निबन्ध वस्तुतः अर्थ प्रधान होता है। व्यक्तिगत वैचित्र्य अर्थ के साथ मिला जुमा रहता है। हृदय की प्रकृतियाँ या भाव बीच-बीच में अर्थ के साथ धाकर प्रपत्ता आयाम बने रहते हैं। इस प्रकार प्रकृति की चारपा के अनुसार निबन्ध के प्रकृत रूप में विचार प्रवाह व्यक्तिगत वैचित्र्य तथा हृदय के भावों के समन्वय की अपेक्षा है।

‘शकलजी की आलोचना पद्धति’

समालोचना साहित्य—सुनसबी के आचार्यग की समीक्षा करने के लिए उसकी समासोचना-पद्धति पर भी विचार करना आवश्यक है। सर्व प्रथम इस सम्बन्ध में बही कहा जा सकता है कि वे समीक्षात्मक रचनाओं का भी साहित्य के अन्तर्गत मानते हैं। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि वे समासोचनात्मक साहित्य की अपेक्षा रचनात्मक साहित्य को अधिक महत्त्व देते हैं। उनका कथन है कि मह्य ग्रन्थों के अन्तर् ही अल्प ग्रन्थों की रचना की जाती रही है। मध्य ग्रन्थों की व्याख्या तथा परीक्षा के लिए ही अल्प ग्रन्थों की आवश्यकता है अतः साहित्य में प्रमुखता रचनात्मक साहित्य को ही मिलनी चाहिए।

समालोचना का उद्देश्य—सुनसबी समासोचना का उद्देश्य केवल कुछ दोष विवेचन ही नहीं मानते हैं। अन्तर्गत समासोचना बही होती है जिसमें सुन-बोध विवेचन को ही प्रमुखता न देकर कवि की विवेचना का विमर्शन करने के लिए उसकी विचारधारा की आतमीन की जाए।

समालोचना के दोष—वे समासोचना के दो प्रधान दोष मानते हैं—निर्वाण्यत्क और व्याख्यात्मक। निर्वाण्यत्क समासोचना में कवि की निष्ठा या प्रथमा अथवा रचना के अर्थ दोनों के आधार पर की जाती है। इसके विरुद्ध व्याख्यात्मक समासोचना में रचना में अहित विषयों को मुख्य अन्वय रूप दे दिया जाता है और उनका स्पष्टीकरण दिया जाता है। वह उनका मुख्य निर्धारित नहीं करनी अहित का अर्थ-अनु के अर्थ अन्वय की विवेचनाओं की शोच करती है अथवा रचना के अन्तर्गत भावों की विमर्श व्याख्या में तत्पर रहती है। व्याख्यात्मक समीक्षा के ही दोष और ही

जाते हैं—ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक। इन दोनों रूपों में काव्य बस्तु के साथ सम्बन्ध रखने वाली धन्य बहूत-सी बातों का विचार किया जाता है। ऐतिहासिक समालोचना यह निर्धारित करती है कि समीक्ष्य रचना का उसी प्रकार की धन्य रचनाओं के साथ क्या सम्बन्ध है और उसका साहित्य-परम्परा में क्या स्थान है। मनोवैज्ञानिक समालोचना में कवि के जीवन के धर्म और स्वभाव आदि के अध्ययन द्वारा उनकी धन्य-निर्माण का मुख्य अनुसन्धान भी किया जाता है।

रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में समिप्य-प्रभाव का अभाव रहस्यवाद और द्वायावाद के प्रचलन का प्रभाव समीक्षात्मक साहित्य पर पड़ना प्रायः स्पष्ट है। परन्तु प्रभाव-अभिव्यक्ति समीक्षा का प्रचलन हुआ। पुस्तक-मीमांसा प्रकाश की समीक्षा का कोई मुख्य स्वीकार नहीं करना। वह कहती है कि उस समालोचना करना ही धर्म है क्योंकि किसी कवि की समालोचना कोई इसी लिए करने बँटना है कि उस कवि के कथ्य को उसके प्राय को ठीक-ठीक हृदयमय करने में सहायता मिले। अतः नहीं कि समालोचना ही भावार्थों की रचना के पर-विश्लेषण द्वारा धन्य मनोवैज्ञानिक करे। इसके प्रतिनिधित्व में प्रकाश की समीक्षा में प्रायः प्रायः विचार में बाधक बनकर आ गयी होती है। पुस्तक-मीमांसा के अनुसार विद्वान् समालोचना के लिए विद्वान् और प्रारम्भ कवि दोनों पराजित हैं। निर्यात्मक समीक्षा के लिए विद्वान् की धन्य-रचना है और प्रभाव-अभिव्यक्ति समीक्षा के लिए प्रारम्भ कवि की धन्य-रचना है। निर्यात्मक समालोचना का ध्यान उन मापनों की प्रायः रहता है जिनके द्वारा कवि या लेखक अपनी अनुसूचितों को प्रायः करने तक प्रेरित करने का कार्य सम्पन्न करता है। वह मापन की उपपत्तियों को धन्य मान्य बनाती है। उमरु-वाक्य पर ही माध्य को मित्रि की परीक्षा का जा सक्ती है। प्रभाव-अभिव्यक्ति समालोचना माध्य को मित्रि मानता ही धन्य है धन्य वह मापनों की उमरु कर माध्य-मित्रि का हा-पत्ता समीक्षा का आधार बना लेता है। पुस्तक-मीमांसा दोनों समीक्षाओं का सम्बन्ध अन्तः-प्रभाव है। वे कहते हैं कि इन दोनों समीक्षाओं का सम्बन्ध बुद्धि और हृदय

के साथ-साथ चलने से ही हो सकता है। निर्वाचक समीक्षा की एक अन्य उपयोगिता के लिये कहते हैं कि इसमें साक्षरहीन कवियों की रोक-टोक का सकेही सम्भव साहित्य क्षेत्र में सम्भवतः प्रभाव के साथ-साथ निरर्थक एवं अनुपयोगी रचनाएँ भी प्रविष्ट होने लगीं। केवल प्रभावमिम्बक समीक्षा को पुनः ही न ज्ञान के क्षेत्र में न भाव के क्षेत्र में मुख्य प्रभाव करना नहीं चाहते। वे समीक्षा का विचारपरक स्वरूप ही उपाय समझते हैं। योरोपीय साहित्य समीक्षा के नाम से प्रचलित एवं मुख्य सम्बन्ध-बन्ध को वे महत्व नहीं देना चाहते। मुख्यतः अपनी भाषा को स्पष्ट करने के लिए 'समीक्षा' शब्द पर ध्यान देते हैं। वे कहते हैं कि समीक्षा का अर्थ प्रकृति ठरह देलना और विचार करना है, यहाँ वह एक हीमी एक विचारपरक होती। सम्भवतः या भावपरक कृति की परीक्षा के लिए दूसरी किसी ही कल्पना प्रधान तथा भावप्रधान रचना करने से समीक्षा का कुछ स्वरूप निर्मित नहीं हो सकता। एक समीक्षा भाषा के सांकेतिक या सम्बन्धीक प्रयोग से ही हो सकती है। भाव प्रकृतिक प्रयोग से नहीं। कलाकारी स्वरूप प्रभावमिम्बक समीक्षा और विचारपरक समीक्षा में मुख्य और स्त्री का अर्थ बर्णित करते हैं। निर्वाचक समीक्षा मुख्य है अर्थात् सक्रिय है और दूसरी प्रभावपरक समीक्षा स्त्री है अर्थात् निष्क्रिय है। पहली एक प्रतिष्ठित धारणा को लेकर काव्य की परीक्षा में प्रयुक्त होती है और दूसरी समीक्षा काव्य के प्रधान को चुनना बहल करती हुई उसी में अन्त हो जाती है। मुख्यतः मुख्य समीक्षा के पक्षपाती हैं।

समीक्षा के साधन—मुख्यतः भारतीय काव्य समीक्षा के साक्षर बर्णित साधनों को अत्यन्त व्यापक एवं प्रीड स्वीकार करते हैं। उनका विचार है कि भारतीय काव्य समीक्षा के अर्थ अल्प रस भ्रमकार आदि के साधारण पर एक ऐसी समीक्षा प्रचाली प्रतिष्ठापित की जा सकती है जिसके द्वारा हम सारे संसार के सम्पूर्ण साहित्य की आलोचना कर सकते हैं।

मुख्यतः की समीक्षा पद्धति समीक्षाधर्म—मुख्यतः व्याख्यात्मक समीक्षा के समर्थक हैं। उस और अन्तरे आदि प्राचीन कालों के साधारण

पर युग-बाप विवेचन की सीमी को वे एडिगन समीक्षा मानते हैं। वे उसमें सुधार करना चाहते हैं। वे कवि की विद्यपताया का ध्येयस्य धीर जगदी प्रान् प्रकृति की ध्यानबीन करने वाली समीक्षा को उच्छ्वकाटि ही समीक्षा स्वीकार करते हैं। वे समन्वयवादी समीक्षक हैं। उन्होंने मैथिलिक समीक्षा और प्रयोपामक समीक्षा को विना दिया है। उन्होंने जो कुछ मैथिलिक निरूपण किया नहीं उनकी आलोचना का मान दण्ड हो गया और वे उन सिद्धांतों तक प्रयोगात्मक समीक्षा द्वारा पहुँचे हैं। इसके अनिश्चित उन्होंने भारतीय धीर पारश्चात्य समीक्षा सिद्धांतों का समन्वय किया है। अपने सिद्धांतों के समन्वय में दोनों एतों में साम्यी सहन का है। पारश्चात्य सिद्धांतों में वे जो सिद्धान्त भारतीय परधरा के अनन्त हैं उनको ही स्वीकार किया है।

मुक्तजी रमवादी आचार्य हैं। उनकी हृदय की मुक्तभावस्था रम हवा है रमाशुभ्रि के समकल है। वे केवल उचित वैशेष्य को ही काय्य नहीं मानते। काय्य के लिए माय की प्रकृता प्रतिबन्धित स्वीकार करत हैं। इन पर भी वे भारतीय आचार्यों की भाँति रम का किमी इतर सोरु की अनुभूति नहीं मानत। वे रम की वाटियाँ मानकर बने हैं। उन्होंने प्राचीन साधारणोक्तय के सिद्धान्त की तबीन व्याख्या की है। इनके रम सिद्धान्त में वेग मूर्ति के माय रामात्मक सम्बन्ध ही स्थापना तथा ताज सामान्य भावभूमि की कल्पना की है।

साई १० विचार म की भाँति वे मुख्यतः दो या त्रीणिवादी समीक्षक हैं। उक्ति रमाशुभ्रि को जीवन का कात्मिक अनुभूति में पूषा कोई धनधु नि नहीं माना है। वे मात्त्रिय धीर जीवन का सम्बन्ध मान कर बने हैं। काय्य उनकी शक्ति में कल्पन जगत् की धर्मध्वंसि है "मात्त्रिय 'रम' के अनुभूति पत्र के माय ही सहस्य समाज पर पश्य बाने प्रवाद का भी उन्होंने शुद्ध विवेचन किया है। वे काय्य का अनुभूति की उच्छ्व भूमि तक पहुँचाने का मायक स्वीकार करते हैं। माय कल्पना की धारणा तथा उनके सम्मुख रहनी है धनध्व व स्थान मुक्तय रचना के पुष्पोपर नहीं

के साथ-साथ चलने से ही हो सकता है। निर्गयात्मक समीक्षा की एक मात्र उपयागिता के यह भी कहते हैं कि इसमें साधनहीन कवियों की रोक-टोक हो सकती है। अथवा साहित्य क्षेत्र में धम्मबन्धा पराजयता के साथ-साथ निरर्थक एक अनुपयोगी रचनाएँ भी प्रविष्ट होने लक्ष्मी। केवल प्रभावार्थि धम्मक समीक्षा को धुनसजी न ज्ञान के क्षेत्र में न मात्र के क्षेत्र में मुख्य प्रदान करना नहीं चाहते। वे समीक्षा का विचारालम्क स्वरूप ही उपादेय समझते हैं। योरोपीय साहित्य समीक्षा के नाम से प्रसिद्ध धर्म मुख्य धम्मा इन्वर को वे महत्व नहीं देना चाहते। सुनसजी धपनी बारबा का स्पष्ट करने के लिए 'समीक्षा' धर्म पर ध्यान देते हैं। वे कहते हैं कि समीक्षा का धर्म धम्मी तरह देवना और विचार करना है, अथ बहुत कम होपी ठक विचारालम्क हम्मी। कल्पालम्क वा भावालम्क कृति की परीक्षा के लिए दूसरी वही ही कल्पना प्रदान तथा भावप्रधान रचना करने से समीक्षा का कुछ स्वरूप निर्मित नहीं हो सकता। अथ समीक्षा भाषा के सांकेतिक वा लक्ष्यबोधक प्रयोग से ही हो सकती है। भाव प्रवर्तक प्रयोग से नहीं। कलावादी स्थान प्रभावार्थिधम्मक समीक्षा और विचारालम्क समीक्षा में मुख्य और स्त्री का धर्म बर्णित करते हैं। निर्गयात्मक समीक्षा दुरप है धर्मात् सक्ति है और दूसरी प्रभावार्थिधम्मक समीक्षा स्त्री है धर्मात् निर्गयात् है। पहली एक प्रविष्टिधम्मक भावार्थ का लेकर काव्य की परीक्षा में प्रवृत्त जाती है और दूसरी समीक्षा काव्य के प्रभाव को अनुपाय इहान करती हुई उसी में मग्न हो जाती है। सुनसजी मुख्य समीक्षा के पक्षपाती है।

समीक्षा के साधन—सुनसजी भारतीय काव्य समीक्षा के साधन बर्णित साधनों को धर्माल्क ध्यापक एक प्रौढ स्वीकार करते हैं। उनका विरवाध है कि भारतीय काव्य समीक्षा के साधन सन्धि १६ धर्मकार आदि के आधार पर एक ऐसी समीक्षा प्रणाली प्रतिष्ठापित की जा सकती है जिसके द्वारा हम सारे संसार के सधुर्ग साहित्य की धामोचना अभी जाति कर सकते हैं।

धुनसजी की समीक्षा पद्धति समीक्षाधर्म—धुनसजी ध्यान्पालम्क समीक्षा के समर्पक हैं। रम और धर्मकार आदि प्राचीन तत्त्वों के आधार

पर बुद्ध-दोष विवेचन की सीरी को वे एतद्गत समीक्षा मानते हैं। वे उसमें सुधार करना चाहते हैं। वे कवि की विदोषताओं का सम्बोधन और उसकी यत्न प्रकृति की छानबीन करने वाली समीक्षा को उच्छ्वकोटि की समीक्षा स्वीकार करते हैं। वे समन्वयवादी समीक्षक हैं। उन्होंने सैद्धांतिक समीक्षा और प्रयोगात्मक समीक्षा को मिला दिया है। उन्होंने जो कुछ सैद्धांतिक निबन्ध किया वही उनकी सामोचना का मातृ रूप हो गया और वे उन सिद्धान्तों तक प्रयोगात्मक समीक्षा द्वारा पहुँचे हैं। इसके प्रतिफल उन्होंने भारतीय और पारश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों का समन्वय किया है। परन्तु सिद्धान्तों के समन्वय में दोनों पक्षों में सामग्री प्रकृति की है। पारश्चात्य सिद्धान्तों में वे जो सिद्धान्त भारतीय परम्परा के अनुकूल हैं उनको ही स्वीकार किया है।

सुखमयी रसवादी छायाएँ हैं। उनकी हृदय की मुग्धावस्था रस दाता है रसानुभूति के समकक्ष है। वे केवल जिन वैशिष्ट्य को ही वाच्य नहीं मानते। काव्य के लिए भाव की प्रेरकता अनिवार्य स्वीकार करते हैं। इन पर भी वे भारतीय छायाओं की भाँति रस को हिमी इतर मोह की अनुभूति नहीं मानते। वे रस की कोटियाँ मानकर चले हैं। उन्होंने प्राचीन साधारणोक्तय के सिद्धान्त की नवीन व्याख्या की है। इसके रस सिद्धान्त में रस मूर्ति के साथ 'रसात्मक' सम्बन्ध की स्थापना तथा मोह सामान्य भावभूमि की कल्पना मानी है।

धार्मिक विवेचन की भाँति व सूर्यवादी या नीतिवादी समीक्षण है। उन्होंने रसानुभूति को जीवन की वास्तविक अनुभूति से पृथक् कोई धर्म नहीं माना है। वे साहित्य और जीवन का सम्बन्ध मान कर चलें हैं। काव्य उनकी दृष्टि में जीवन त्रयण की अभिव्यक्ति है इसलिए 'रस' के अनुभूति के साथ ही सद्गुण समाज पर पड़ने वाले प्रभाव का भी उन्होंने सूक्ष्म विवेचन किया है। वे काव्य का अनुकूलना की उच्छ्व भूमि तक पहुँचाने का भाव स्वीकार करते हैं। मोह कल्पना की भावना महा उनसे सम्मुख रहती है अतएव वे स्वान्त मुद्राय रचना के पृच्छोक्त नहीं

है। स्वास्थ्य सुखाय को जन सुखाय बना देने में ही वे रचनाकार की कृतार्थता स्वीकार करते हैं। उन्होंने 'सद्यः परमिदुस्तये' तथा 'सिधे तरलतमे' इन दोनों प्रयोगों में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इनका नीतिवाय इसी सामञ्जस्य पर प्रतिष्ठित है।

सौन्दर्यानुभूति को वे प्रायः रमानुभूति के ही समकक्ष स्वीकार करते हैं। दोनों धर्मों का एक ही धर्म में प्रयोग करते हैं। उनकी दृष्टि में सत्य तथा कीर्तिवाचक परिस्थिति ही सौन्दर्यानुभूति है। रूप सौन्दर्य ही सौन्दर्य नहीं कर्म सौन्दर्य भी सौन्दर्य का प्रतीक है। वे इन दोनों में सामञ्जस्य देखना चाहते हैं। वे व्यक्ति को निरंकुश स्वतन्त्रता देने के पक्षपाती नहीं हैं व्यक्ति और समाज के सामञ्जस्य को वे प्रमुखता देते हैं। उनकी दृष्टि में काव्य व्यक्ति के सौन्दर्य-विकास का एक महत्वपूर्ण साधन है। इसके द्वारा बुद्धि वृद्धय और कर्मपथित तीनों का विकास होता है। इस प्रकार वे नीतिवादी होकर भी कवि को अस्तेयक बन जाने का अधिकार नहीं देते। उनकी दृष्टि में काव्य में नीति-धर्मोक्ति का विकास ही निरन्तर है क्योंकि वे धर्म और सुन्दर में कोई भेद नहीं मानते हैं। काव्य में जो 'सुन्दर' है वही 'धर्म' है।

धर्म विषय की दृष्टि में लोकसंघर्ष की शांतिवाचकता को वे ग्रहण करते हैं धर्मात् कैवल्य कोमल जागों क बर्चन करने की प्रयत्ना कोमल और कठोर, सत्य और अथ दोनों प्रकार के मार्गों का उत्प्रेषण काव्य में प्राथम्यक मानते हैं। प्रकृति को भी धर्म विषयो के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। वे प्रकृति को सासम्बन्ध रूप में भी काव्य में स्थान देना चाहते हैं।

काव्य तत्त्वों में भाव और ज्ञान का सामञ्जस्य उनको धर्मीय है। कल्पना को प्रस्तुत विधान समुदाय आदि की योजना में तथा अग्रस्तुत विधान में सामान्य मानते हैं, उसे साध्य नहीं मानते। आधुनिक कल्पना ही उनकी दृष्टि में काव्य के लिए उपादेय है। वे अलंकार और अलंकार्य का भेद स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में अलंकार विषय प्रकार की बर्चन होती है।

काव्य और कला को एक ही रूप में वे महत्व नहीं देते हैं। वे कला

घोर काव्य के उद्देश्यों में पर्याप्त प्रश्न मानत हैं ।

मुक्तक की घरेला प्रबन्ध काव्य को अधिक महत्त्व देत है । प्रबन्ध को रमबादा और मुक्तक को रस के छीटे मानते हैं । उन्होंने काव्य के मुख्य दो रूप स्वीकार किये हैं—लोकमयाग की साधनाबन्धा धर्मार्थ प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले तथा सोकमयस की सिद्धाबन्धा धर्मार्थ उप भाग पक्ष को लेकर चलने वाले ।

समीक्षा साहित्य—मुक्तक की मे प्रायः हिन्दी साहित्य के सभी नामों के कवियों की समीक्षा की है । समीक्षा-साहित्य में हम केवल उन रचनाओं को ले सकते हैं जो स्वतन्त्र रूप से घोर पूर्व विस्तार के साथ लिखी गई हैं । इस दृष्टि से मुक्तक की समीक्षा-साहित्य में तीन कृतियों ही पर्य्ययित की जा सकती हैं—गोस्वामी तुलसीदास नामकी प्रम्पावली मूरवास । इन तीनों में मे श्री गायत्री प्रम्पावली की भूमिका को ही विशेष महत्त्व दिया जा सकता है । क्योंकि इसी में उन्होंने 'जायसी' की उक्ति विस्तार के साथ सभी धर्मों तथा उपायों की समबद्ध समीक्षा प्रस्तुत की है ।

गोस्वामी तुलसीदास—इस संकलनात्मक ग्रन्थ में घट्टारह निबन्ध संकलित किये गए हैं । यह गोस्वामीजी के महत्त्व के साक्षात्कार और उनकी विवेकताओं के प्रदर्शन का समुद्र प्रयत्न मान है । इसमें मुक्तक की सभी समीक्षा के धारदर्य हम मिल सकते हैं । 'तुलसी की मन्त्रि पञ्चति 'प्रकृति और स्वभाव' 'मोक्षधर्म' 'मगमान्ता' प्रकरणों में तुलसीदास की प्रम्पा प्रकृतियों की विस्तारपूर्वक छानबीन की गई है । तुलसीदासजी मन्त्र कवि हैं । उनकी प्रम्पा प्रकृति की व्याख्या मन्त्रि के स्वरूप व पञ्चति के विरलपक्ष में ही की जा सकती है इसीलिए मुक्तक की मे उक्त निबन्धों में तुलसी की मन्त्रि माधना का प्रम्पा प्रकृतित मन्त्रि सम्प्रदायों से प्रम्पर स्पष्ट करने का उपक्रम दिया है । निर्मुक्त मन्त्रि माधनात्मक घोर साधनात्मक रहस्य वाली प्रकृति माधुकोशात्मता की प्रकृति में मन्त्रि की मन्त्रि मन्त्रि का प्रम्पर स्पष्ट करना एक प्रकार से उनकी प्रम्पा प्रकृति की छानबीन ही है । व प्रम्पा मुक्तक की व्याख्यात्मक समीक्षाधर्म के उद्देश्य बने जा सकते हैं ।

तुलसीजी की निरालाही समीक्षा है अर्थात् वे काव्य के प्रभाव पक्ष को अपनी धारणा-व्यवस्था के विद्येय अंग मानते हैं। इस दृष्टिसे इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के 'धर्म-धीर-वार्ता-वृत्ता का सम्बन्ध' 'ओर-नीति-धीर-मर्बादाबाद' 'धीर-मात्रता-धीर-भक्ति-धावि-प्रकरण-विद्येय-उत्प्रेरणीय' हैं। इनमें तुलसीजी के काव्य के प्रभाव पक्ष का सम्पूर्ण विश्लेषण किया गया है। ये उनकी मूल्यवारी प्रवृत्ति के परिभाषक कहे जा सकते हैं।

तुलसीजी की सम्बन्धवारी प्रवृत्ति 'धीर-मात्रता-धीर-भक्ति' तथा 'ज्ञान-धीर-भक्ति' इन ही प्रकारों में स्पष्ट धर्मकक्षी है। इनमें धर्म-सीन्दर्य और रूप-सीन्दर्य के भक्ति-धीर-धीर के साथ-ही-साथ-ही सम्बन्ध का धर्म-पक्ष किना-बना है। मरुतन के धर्म-प्रकरणों में तात्त्विक एवं वैज्ञानिक समीक्षा का स्वरूप धारणा-व्यवस्था है। 'तुलसीजी की काव्य-व्यवस्था' तुलसीजी की भावुकता 'धीर-मात्रता-धीर-भक्ति-धावि-प्रकरण' 'बाह्य-तुलसी-विषय' 'धर्म-कार-विधान' 'उक्ति-वैचित्र्य' 'भाषा-पर-संश्लेषण' ये सब प्रकरण तुलसीजी के सिद्धांतों का पूर्ण प्रकाशन करते हैं। तुलसीजी रसवादो-समी-धर हैं। इन सिद्धांतों में रस के तत्त्वों के आधार-पर-तुलसीजी के काव्य की समीक्षा की गई है। वे विषय-वृत्त की महत्ता प्रतिपादित करते हैं और इनके लिए-संश्लेषण-विषय की धर्म-वार्ता-वृत्ता स्वीकार करते हैं। तुलसीजी के काव्य की समीक्षा में बहु-सिद्धांत भी प्रयुक्त किया गया है। तुलसीजी के धर्म-कार-विधान की समीक्षा तुलसीजी के काव्य में व्याप्त कतिपय मानिक-सुक्ति-धर्मों की धर्म-व्यवस्था तथा धारणा-व्यवस्था-सम्बन्धी धर्म-व्यवस्थाओं का विश्लेषण-विद्ये-यन-उनके-समीक्षा-धर्मों का प्रत्यक्ष प्रभाव व उदाहरण कहा जा सकता है। धर्म में 'हिन्दी-साहित्य-से-सम्बन्धी-का-स्वातंत्र्य' धीर-प्रकरण में उन्होंने 'निर्धन-व्यवस्था-समीक्षा' का स्वल्प-उल्लेख किया है। प्रभाव-विश्लेषण-की-धर्म-धर्म-व्यवस्था-प्रधान-सम्बन्धी-तथा-निर्धन-का-धर्म-व्यवस्था-इस-धर्म-मरुतन में इसे-कही-भी-नहीं-मिलती-प्रायः-समीक्षा-का-विद्येय-धर्म-स्वरूप-ही-इसारे-सम्बन्ध-घाटा-है। धर्म-वृत्त-कहा-जा-सकता-है-कि-तुलसीजी-ने-इन-मरुतन-धर्म-में-अपनी-समीक्षा-व्यवस्था-के-पूर्ण-स्वरूप-का-धर्म-व्यवस्था-है

दिया है।

मूरदास—'मूरदास' नामक समीक्षा ग्रन्थ श्री दीक्षित वेङ्कट का रचना का मातृ है। 'भक्ति का विकास' 'श्री बन्धुभाष्य' ये दो प्रकरण मूरदास के धर्म-हृदय के विस्तारण में सहायक बड़े का रचना है परन्तु व्याख्यानिक समीक्षा के परिचायक हैं। 'जीवन कृत दीपक प्रकरण ऐतिहासिक समीक्षा का ही भाग है। इसमें भक्तिधारा में 'मूरदास का स्थान स्पष्ट करने का प्रयास है। इसमें मूल में भक्ति परम्परा के धर्म कवि तुलसीदास के साथ साम्य तथा वैषम्य को स्पष्ट करने की प्रकृति विद्यमान है। 'बाध्य में मोक्ष मंगल यह प्रकरण 'मूरदास की समीक्षा के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं रखता इसमें तो केवल तुलसीदास के साहित्यिक सिद्धांत का प्रतिपादन है। 'मूरदास' की साहित्यिक समीक्षा आलोचना दीपक प्रकरण में ही है। यह शारी समीक्षा साहित्यिक समीक्षा ही है क्योंकि इसका आधार राम राम के लक्ष्य साहित्यिक उद्देश्य विचार अनुभाव महायोगीश्वर सांख्यिक समीक्षा के साधन ही हैं। इसके ऐतिहासिक तुलसी के साथ तुलना करके तुलसीदास के समीक्षा का तथा मूरदास का स्थान निर्धारित करके विषयगत समीक्षा का स्वरूप भी उपस्थित कर दिया गया है।

जायसी सम्पादनी—'जायसी सम्पादनी' की रचना के रूप में जायसी की कर्मकांड आलोचना का सर्वांगपूर्ण विस्तृत तुलसीदास ने इस ग्रन्थ के द्वारा प्रस्तुत कर दिया है। 'भक्ति मुहम्मद जायसी 'प्रमगाथा की परंपरा' 'जायसी का जीवन कृत 'जायसी का रहस्यवाद' 'मन और सिद्धांत ऐतिहासिक प्रकरण ऐतिहासिक समीक्षा का भाग है। 'नम जायसी की प्रमगाथा परम्परा में स्थिति का विस्तारण किया गया है। रहस्यवाद साहित्य सांख्य साहित्य सिद्धांत का विस्तारण भी ऐतिहासिक समीक्षा का ही भाग प्रस्तुत करता है। 'पदावन की रूप 'ऐतिहासिक साधारण' पदावन की प्रमगाथा ऐतिहासिक प्रकरण जायसी की हृदय की व्याख्यानिक समीक्षा का भाग है या भाग है। 'दरोगमुद प्रेम 'प्रमगाथा 'जायसी की जानकारी में प्रस्तुत रचना के आधार पर कवि की रचना निर्माता के अनुमान का स्वरूप

हैं और व्याख्यात्मक समीक्षा के अंग हैं। उक्त प्रकारों के अतिरिक्त 'विमोह पद्य' 'संभोग शृंगार' 'सम्बन्ध निर्वाह' 'फलकार' 'स्वभाव चित्रण' आदि प्रकारण सैद्धान्तिक समीक्षा के अंग हैं क्योंकि इनमें वायसी की रचना की तात्त्विक विवेचना की गई है। 'संक्षिप्त समीक्षा' का प्रकारण एक प्रकार से निर्णयार्थक समीक्षा के स्वरूप को ही भूल जाता है।

यं समीक्षाएँ शुद्धमयी के समीक्षाओं के प्रतिबिम्ब स्वरूप हैं। शुद्धमयी ने अपना सैद्धान्तिक निरूपण विशेषतया इन हीनों कवियों की रचनाओं की प्रयोगात्मक आलोचनाओं के आधार पर ही किया है।

शुक्लजी का रचनात्मक साहित्य

सृजनात्मक प्रतिभा—सुकुलजी के मार साहित्य का अनुशीलन करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने गद्य के माध्यम से अपनी सृजनात्मक प्रतिभा का प्रकाशन किया है। उनकी सप्ताहिक रचनाओं में उनका निबन्ध तथा इतिहास सम्बन्धी रचनाएँ धार्मिक हैं। उनकी सृजनात्मक प्रतिभा का धार्मिक सप्ताहिक रचनाओं में भी मिलता है। परन्तु उनकी भाषा अत्यन्त सरल है। ये रचनाएँ भी दो रूपों में मिलती हैं—घनुरित तथा मौलिक। हिन्दी साहित्य में उनका स्थान सप्ताहिक रचनाओं के आधार पर ही निर्धारित किया जा सकता है।

निबन्ध वर्गीकरण—सुकुलजी का गद्य साहित्य प्रधानतया निबन्ध रूप में ही मिलता है। उनकी सप्ताहिक तथा व्यावहारिक समीक्षाएँ भी निबन्ध रूप में ही मिलती हैं। निबन्धकार के रूप में उन्होंने हिन्दी साहित्य में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया है। उनका निबन्ध मुख्यतः दो रूपों में विभक्त किये जा सकते हैं—प्रारम्भिक तथा प्रौढ। प्रारम्भिक निबन्धों में 'साहित्य' 'भाषा की शक्ति' 'उपस्थान' 'भारतम्बु हृदय' और 'हिन्दी' 'मित्रता परिगणित' किये जा सकते हैं। ये निबन्ध पत्र पत्रिकाओं में उनके साहित्यिक जीवन के प्रारम्भिक काल में प्रकाशित हुए। प्रौढ निबन्धों की भी दो धारियाँ की जा सकती हैं—समीक्षात्मक तथा समाचार सम्बन्धी। समीक्षात्मक निबन्ध भी दो प्रकार के हैं—सैद्धांतिक समीक्षात्मक तथा व्यावहारिक समीक्षात्मक। सैद्धांतिक समीक्षात्मक निबन्धों में 'विचारा कला है' 'वाच्य के लोके मदन की साधनावस्था' 'साधारणिकरण और व्यक्ति वैचिष्यवाद' 'रनात्मक बोध के विविध रूप' 'वाच्य में प्राकृतिक रूप' 'वाच्य

में रहस्यवाद' 'काव्य में समिस्यंत्रनावाद' दीर्घक उल्बकोटि के निरग्रह परिणामित किये जा सकते हैं। व्यावहारिक समीक्षात्मक निबन्धों में 'भारतेंद्रु हरिकचन्द्र' 'तुमसी का मखिन पार्थ' 'मानव की धर्मभूमि' प्राधि प्रमुख हैं। मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में 'भाव या मनोविकार' 'उत्साह' 'ध्यामभित' 'कृष्णा' 'मन्त्रा धीर ग्माणि' 'लोम धीर प्रीति' 'शृणा' 'ईर्ष्या' 'मय' धीर 'श्लेष' लिए जा सकते हैं। ये निबन्ध 'चिन्तामणि' नाम प्रथम तथा द्वितीय में संकलित हैं 'रत्न मीमांसा' नामक पुस्तक में भी इनके साथ विभाव धीर साहित्यिक विषयों पर लिखे गए निबन्ध ही हैं।

निबन्ध का स्वरूप—सुस्तजी निबन्ध को गद्य साहित्य का एक महत्त्व पूष धरा मानते हैं। वे कहते हैं कि यदि यह कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है क्योंकि भाषा की सक्ति का पूर्ण विकास निबन्ध कर में सबसे अधिक सम्भव होता है। निबन्ध के स्वरूप में सुस्तजी सर्वप्रथम विचार प्रवाह की धोर ध्यान से जाते हैं। विचार-प्रवाह चिन्तन बसा का परिचायक है धर्मान् चिन्तन काल में ही विचारों का प्रवाह गतिशील होता है। यह स्थिति भावावेम की स्थिति से सिद्ध होती है। भावावेम की स्थिति में धरर विमान स्वत गद्य धस्त स्फुरित होता है धतएव भाषा को अपने विकास के लिए कम धरसर मिलता है। इसके विपरीत चिन्तन बसा में धध्य विमान सहज रूप से ही नहीं हो पाता उसके लिए विशेषधम धपेक्षित होता है, धतएव भाषासक्ति के विकास को पूर्ण धरसर मिल जाता है। यही कारण है कि सुस्तजी निबन्ध को गद्य भाषा की कसौटी मानते हैं।

सांख्यिक पारचात्य समीक्षकों के अनुसार निबन्ध-स्वरूप में व्यक्तितगत विशेषताओं का महत्तम धधिक महत्त्व दिया जाता है। सुस्तजी भी इन विशेषता को निबन्ध के प्रकृत स्वरूप में विशेष महत्त्व देते हैं परन्तु वे इसका यह धर्ष नहीं लेते कि इन विशेषता के प्रदर्शन के लिए विचारों की धृ खसा का ही धजाव कर दिया जाए। साहित्यकार क चिन्तन में उसका हृषय मिला रहता है। निबन्ध में धरविनयत विधायता का यही रहस्य है। वे निबन्ध में धाव को धनना महत्त्व नहीं देना चाहते कि वह विचारधारा में गतिरोध उत्पन्न कर

ह। वे ता उसी निरग्रह का उत्कृष्ट कोटि का मानते हैं विमम माग-माग विचारों की उद्भावना या अभिव्यक्ति हुई है और व विचार एक दूसरे में युग्म हुए हैं और उनका पत्रम में पाठक की बुद्धि उत्तमिण हाकर विभी नहीं विचार पत्रि पर ही पड़ ।

यद्यपि दुकनजी निरग्रह व विचारामक भावामक और वचनामक में भव मानते हैं और सक्य भव में व्यास समाम पाग तरय विद्येय तथा प्रसाप नामक विभिन्न धीमिया का अस्तित्व भी स्वीकार करत हैं तथापि उनही भावना के अनुसार समाम भसी प्रधान विचारामक निरग्रह म ही निरग्रह का यथार्थ स्वरूप उपलब्ध हो सक्ता है ।

दुकनजी के निरग्रहों की विमपताएँ—दुकनजी क प्रो निरग्रहों के सम्भार अनुगीतन के पञ्चाङ्ग निम्नलिखित विमपताएँ हम मिलती हैं—

१ बुद्धि तत्त्व की प्रमानता २ निजी भावना का माग ३ मोनिधारिता ४ धारणीयता तथा मौमिकता ५ भारतीयता ६ नियमन एव व्याख्यात्मक पत्रि ७ समाम धीमी ८ भाषामक विमपताएँ मुक्तिमयता ।

बुद्धि तत्त्व—विचार प्रधान निरग्रह म बुद्धि तत्त्व की प्रधानता रखती है । दुकनजी क निरग्रहों म भा मकम प्रमुक्त विमपता भी तत्त्व की प्रमानता ही है । वे अपने निरग्रहों को अनर्थाभा मानत हैं । उनके अपने धर्मों म इस याता के लिए बुद्धि ही निरग्रहों रही है धर्माङ्ग के धन निरग्रहों म बुद्धि तत्त्व का प्रधानता देन क संकल्प में ही प्रवृत्त हुए हैं । हुदन ता कथन याता के धन के परिहार के उद्देश्य में बीच-बीच में भ्रंशता ही गता है ।

वैज्ञानिक प्रवृत्ति—उनके निरग्रहों में हम वैज्ञानिक प्रवृत्ति क दान होने हैं इमी के आधार पर हम बुद्धि तत्त्व की प्रमानता का निर्धारण कर सकते हैं । इमी प्रवृत्ति के परिमाण स्वरूप उनके निरग्रहों में सम्पुण्य दृष्टि वर्गीकरण की प्रवृत्ति सुमतामक धीमी अमदुता तथा अर्थवति धारि सुन उत्पन्न हो गए हैं ।

सम्पुण्य दृष्टि—वैज्ञानिक का मर्य बन्ध विद्वान् हा गता है धनता व्यस्तित्व नहीं । इमीनिण वह सम्पु क सुदु स्वरूप का धन सम्पुण्य

में रहस्यवाद' काव्य में धर्मव्यवहार' छीपक उच्छ्वरोटि के निबन्ध परिगणित किये जा सकते हैं। व्यावहारिक समीक्षात्मक निबन्धों में 'भारत' के लु हरिद्वन्द्व 'सुमती का मक्ति मार्ग' 'मालव की धर्मभूमि' आदि प्रमुख हैं। मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में 'माव या मनोविकार' 'उरसाह' 'पञ्चामक्ति' 'कदवा' 'सज्जा घोर म्माति' 'मोम घोर प्रीति' 'बुणा' 'ईव्य' 'मय' घोर 'कोब' लिए जा सकते हैं। ये निबन्ध 'चिन्तामणि' नाम प्रथम तथा द्वितीय में संकलित हैं 'रस मीमांसा' नामक पुस्तक में भी इनके साथ 'विभाव घोर' माहिल्यिक विषयो पर लिखे गए निबन्ध ही हैं।

निबन्ध का स्वरूप—सुकनजी निबन्ध को वच साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग मानते हैं। वे कहते हैं कि यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध वच की कसौटी है क्योंकि भाषा की छक्ति का पूर्ण विकास निबन्ध का सबसे अधिक सम्भव होता है। निबन्ध के स्वरूप में सुकनजी सर्वप्रथम विचार-प्रवाह की घोर ध्यान में आते हैं। विचार प्रवाह चिन्तन बचा का परिचायक है अर्थात् चिन्तन काम में ही विचारों का प्रवाह गतिशील होता है। यह स्थिति आवावेश की स्थिति से भिन्न होती है। आवावेश की स्थिति में शब्द विचार स्वतः एव घन स्फुरित होता है अतएव भाषा को अपने विकास के लिए कम प्रयत्न मिलता है। इसके विपरीत चिन्तन बचा में शब्द विचार सञ्चलन में ही नहीं हो पाता उसके लिए विशेष धन प्रयत्न होता है अतएव भाषा के विकास को पूर्ण प्रयत्न मिल जाता है। यही कारण है कि सुकनजी निबन्ध को वच भाषा की कसौटी मानते हैं।

प्रापुनिक पाठशास्त्र समीक्षकों के अनुसार निबन्ध-स्वरूप में व्यक्तिगत विशेषताओं का सबसे अधिक महत्व दिया जाता है। सुकनजी भी इस विषय पर निबन्ध के प्रकृत स्वरूप में विशेष महत्व देते हैं परन्तु वे इसका यह अर्थ नहीं लेते कि इन विशेषता के प्रयत्न के लिए विचारों की मूल्यता का ही अभाव कर दिया जाए। साहित्यकार के चिन्तन में उगका हृदय भिन्न रहता है। निबन्ध में व्यक्तिगत विशेषता का यही रहस्य है। वे निबन्ध में मात्र की रचना महत्व नहीं देना चाहते कि वह विचारचारा में वितरोप उत्पन्न कर

रखकर बलदा है। यही बात हमें घुस्सजी के निबन्धों में प्रायः सर्वत्र मिलती है। सामान्यतः सभी निबन्धों में उनका ध्यान बन्धु बस्तु पर ही रहता है। निजी भावना के समावेश का प्रायः बस्तु में दूर भटकने की प्रेरणा नहीं दे पाया है। प्रत्यक्ष भाव या मनोविकारों के सङ्घर्षों में बस्तुगत वृष्टि का प्रभाव हमें मिल सकता है। यथा लज्जा लोम प्रादि भावों के सङ्घर्ष में उत्साह कल्पा ईर्ष्या तथा भय के विदमपण में इसी वृष्टि का पूर्ण प्रभाव है। ये सङ्घर्ष और विदमपण एकमात्र वृष्टि की त्रिया के ही परिणाम हैं।

बर्गीकरण की प्रवृत्ति—बैज्ञानिक की वृष्टि दो पक्षाओं के बरतपर भेद पर जाती है। उन भेदों के उपभेदों पर भी वह पूर्ण तत्परता मूरमता तथा बन्धीरता में ध्यान देना बलता है। इस धन्वीधन के आधार पर वह समान पुनः-अप-क्रिया वाले पक्षाओं को एक वर्ग में निहित कर देता है। एक वर्ग के भी कई उपवर्ग बनाने का यत्न वैज्ञानिक करता है। घुस्सजी अपने बर्ष विषय के स्पष्टीकरण तथा स्वरूप प्रतिपादन के लिए इसी वैज्ञानिक रीति का अनुसरण करते हैं। भेद दर्शन के आधार पर बर्गीकरण उनके निबन्धों की प्रमुख विशेषता है। उदाहरण स्वरूप एक प्रसंग बड़ा प्रस्तुत किया जाता है।—'उत्साह के प्रथम में घुस्सजी उत्साह के मूल में विद्यमान 'धानम्ब' का बर्गीकरण करते हैं और लिखते हैं—

‘कर्म के अनुष्ठान में जो धानम्ब होता है उसका विधान तीन रूपों में दिखाई पता है— १ कम भावना से उत्पन्न २ कम भावना से उत्पन्न ३ सामान्यतः धर्मात् विषयान्तर में प्राप्त।

यही बर्गीकरण की प्रवृत्ति यथा लज्जा लोम प्रादि भावों के विदमपण में हमें मिलती है। इसी से धन रूप उनके समीक्षात्मक निबन्धों से भी धनेक उदाहरण बर्गीकरण की प्रवृत्ति के उपलक्ष्य में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। यह प्रवृत्ति उनके प्रत्येक निबन्ध में किमी-न-किमी रूप में धन रूप विद्यमान है।

कम बद्धता तथा अस्थिति—बैज्ञानिक वृष्टि का तीसरा लक्षण कम बद्धता तथा अस्थिति है। निबन्ध में ब्रह्मविज्ञान विचारधारा में कम बद्धता तथा अस्थिति वृष्टि के ध्यान में ध्या मङ्गी है, यथा वे दोनों पुन भी वृष्टि तथा

क परिचापक है। गुरुजरी के निबन्धों में प्रायः विषय-वशम का एक मुनि विषय क्रम दृष्टिबोधर हुआ है। वे पहले कथ्य पत्र की स्थापना करते हैं फिर समान विषयान्तर में गुणना प्रतिपाद्य विषय का विवरणपत्र ब बर्णों करण प्रत्येक वर्ण की ध्याप्या करके निबन्धकी समाप्ति करते हैं। इसी के परिणामस्वरूप विचारों की संमति तथा परस्पर अभिविधि सम्पादित हो जाता है। इस प्रकार विविधता में भी एकता के सिद्धता में भी अभिप्रेता ब बगन हो जाते हैं। यही कारण है कि उनके प्रत्येक निबन्ध में समन्वय एक सचमा अध्यात्मिक विचारों का समावेश नहीं होना पाता है। एक ही विषय के साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध रखने वाली बात निबन्ध में विव्यक्त होकर एक विविध प्रकल्प का रूप धारण कर लेती है। फलतः धनात्मिक बस्तु आने नहीं पाती और आत्मिक रहने नहीं पाती। इसी अभिविधि के कारण निबन्ध का प्रकृत स्वरूप उद्भासित होता है। निबन्ध में अधिष्ठित विचार-गुणना तथा समावेश भी इसी में उभयप्र हो जाती है। इसी गुण ब कारण गुरुजरी के निबन्धों में विचारों की परस्पर बही टूटने नहीं पाती। विचारधारा कम तथा अभिविधि के तर्कों के अन्तर प्रकाशित होनी हुई पाठक की चेतना को विविध कर उबल करनी बनती है। इसी में उमड़ी हुनहुन्यना सम्पन्न हो जाती है।

निबन्धी भावना का योग हृदयबुद्धि—निबन्धों में यदि सत्य की निबन्धी भावनाओं का योग न हो तो वह मुक्त बानिध रचना का रूप धारण कर लेती है। भावना योग में विचार प्रदान रचना भी साहित्यिक धर्म क अन्तर्गत आती जा सकती है। गुरुजरी ने ध्यान निबन्धों की रचना करने समय इस तथ्य पर ध्यान रखा है। ध्यान कथ्य विषय ब विवेचन के कथ्य में जहाँ बनी लेने प्रसंग आ गए हैं जहाँ वे ध्यान र्णिक ब प्रयत्न की भावना सचन है बही उन्हीं में अध्यात्म को आने हाय में आने मरी दिया है। लेने रचना में उनही साहित्यिक ब वैयक्तिक र्णिकों अभिप्रेत होकर उनके विचार प्रदान निबन्धों को गरमता प्रदान कर देती है। एनी ही अभिप्रेतिया बान प्रसंग उनकै निबन्धों में विषयी का व्यक्तिगत का ध्यान

सन्निविष्ट कर बैठे हैं। ऐसे ही स्वभावों में हमें मुसलजी के व्यक्तित्व की शक्तिपूर्ण उपमाएँ ही सचनी हैं। उनका धारण सम्मान उनकी गम्भीरता विनोद प्रियता सक्रोचशीलता सात्विकता सामाजिकता लोक कल्याण भावना हृदिमता का प्रति विरक्ति प्रकृति का प्रति अनुचित उनके निबन्धों के बीच बीच में उभरती दृष्टिगोचर होती है। उनका वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक समीक्षामय निबन्धों में बुद्धि-व्यापारके साथ हृदय की शक्ति प्रकृति का सम्मिश्रण निबिबाध रूप से सम्मिलित प्रतीत होता है। सिद्धान्तों के सगुण प्रतिभा समर्पण करते हैं, व्यक्त जनता को महत्त्व देते हैं। उन्हें स्वामाजिक रहस्यभावना साम्प्रदायिक रहस्यवाद से अपेक्षाकृत अधिक प्रिय है। वे काव्य का जीवन से अटूट सम्बन्ध मानते हैं। वे मानवादी एवं रसवादी हैं। धीरे काव्य में शोभा का पाठक को भी महत्त्व प्रदान करते हैं। शेष मूर्ति के साथ रागात्मक सम्बन्ध की धीरे कला शब्द की काव्य शोभा में समुपयोमिता के प्रवचन की शैली उनकी सहज प्रकृति है। उनके विनी व्यक्तित्व और साहित्यिक व्यक्तित्व की ये सभी विशेषताएँ उनके निबन्धों के कसेबसे में प्रायः स्वरूप हो संचारित हो रही हैं। व्यक्तित्व प्रदान वाले ऐसे जनक स्वभाव उनके निबन्धों में से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इस प्रकार हृदय बृत्ति के योग से उनके विचार प्रधान नीरस शब्द-विधान में काव्यत्व की सृष्टि होने लगती है। बापों में प्रतीकारमकता सामाजिकता सरलता धीरे सरलता ऐसे स्वभाव में ही दृष्टि गोचर होती है। तुमनात्मक दृष्टि से यदि मुसलजी के निबन्धों का विश्लेषण किया जाए तो उनकी हृदय बृत्ति का प्रसार विषयतया वा निबन्धों-व्यञ्जनात्मक तथा शोभा का प्रीति-में परिलक्षित होता है।

नीतिवादिता—मुसलजी की हृदय बृत्ति नीतिवादिता के रूप में भी स्वभाव-स्वभाव पर धरना प्रसार प्राप्त करती रही है। नीतिवादी साहित्यकार या समीक्षक काव्य के सौन्दर्य के पक्ष के साथ उसके प्रभाव पक्ष पर ही ध्यान देने से दृष्टि स्पष्ट है। वह मनोरंजन का माध्यम व्यवहारिक उपयोगिता का भी प्रमुखता देता है। इसके अर्थों में वह मुख्यवादी होता है। वह कुछ सौन्दर्य के साथ उनके मुख्य पक्ष महत्त्व का सम्बन्ध भी जोड़ देता है। इसी

प्रवास में वह उपदेशक व जीवन-पत्र-प्रवर्तक बन कर विचित्र मार्ग का संकेत भी करते लपटा है। इसके मूल में उसकी अपनी रचि व प्रकृति सन्निधता से विद्यमान रहती है। जिस वह उपयोगी समझता है जिसे वह महत्त्व प्रदान करता है, जिसे वह बहुमूल्य करना चाहता है उसका समर्थन उसका साहित्य वा समीक्षा करती प्रतीत होती है। अतएव वह मूलतः व्यक्तित्व का ही धर्म सिद्ध होता है। ऐसे स्वयं जैसे वैज्ञानिक दृष्टि से दूर होता प्रकटित कर देते हैं। पुस्तकों के निबन्धों में भी वहाँ-वहाँ इसी प्रकृति के दर्शन होते हैं। वे भी अपने मूल्यों, धारणाओं, रचियों तथा प्रकृतियों का समर्थन करते अपनी धारणा के अनुकूल उचित मार्ग का संकेत करते प्रतीत होते हैं। अतएव वे अपने निबन्धों में व्यक्तित्व का समावेश कर देते हैं और विषय प्रधानता और व्यक्तित्व प्रधानता का परस्पर मिलन होने लगता है। जब वे धारणा को विभिन्न रूप कहते हैं, जब वे किसी भाषा को प्रशंसा या बुरा कहते हैं, जब कर्म-शास्त्रा प्रभृत धारणा को ही तत्त्व-वीरों का धारणा प्रतिपादित करते हैं, जब वे पाप के कर्म को छिपाने-बाधने को अपराधी बोलित करते हैं, जब वे कृतियों के परिष्कार-संस्था प्रकट करते हैं, जब वे जीम-धर्म की प्रशंसा करते हैं और पंजीय को जीम का प्रधान धर्म मानते हैं, जैसे सदाचार का एक सदाचार-साधक-गिण्टाचार का प्रथम धारणा वर्धित करते हैं, तब उनके व्यक्तित्व की विशेषताएँ नीतिशास्त्रा सामाजिकता सोचकस्याम भावना ही ऊपर उभरती परिलक्षित होती है। जब वे कर्म-धर्म का निर्देश करके बीच-बीच में पाठकों को सावधान करते बातें हैं तब उनकी नीतिशास्त्रा साकार हा हमारे सम्मुख आ विद्यमान है। इस प्रकार उनका व्यक्तित्व निबन्धों में समर्थन लपटा है।

शास्त्रीयता तथा भौतिकता—शुद्धता के निबन्धों में शास्त्रीयता और भौतिकता का अर्थ सामंजस्य है। उनके निबन्धों में प्रवाहित विचारवाच्य का मूलभूत भारतीय वाक्यशास्त्रों तथा नवीन पाश्चात्य साहित्य समीक्षकों द्वारा वर्धित तत्त्व ही है। उनकी भौतिकता सर्वथा नवीन विचारवाच्य को प्रवाहित करने में नहीं है, यद्यपि इन शास्त्रीय विचारों में अपने-आप

दार्शनिक धनुष के आधार पर कुछ संशोधन तथा परिवर्तन करने में ही है। उन्होंने भारतीय तथा पारंपारिक वाक्य सिद्धान्तों तथा मनोवैज्ञानिक क्षेत्र के तथ्यों की अपने समाज-वर्तन के धनुष तथा व्यावहारिक धनुषों के धनुषार नवीन व्याख्या प्रस्तुत करके अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। वैयर्थ विषय पुराने तथा प्राचीन हैं परन्तु उनका स्वरूप-विस्तार व्यावहारिक धनुषों पर प्रकटित है। भाषा या मनोवैज्ञानिक सम्बन्धी विषयों की विवेचना के अन्तर्गत प्रायः समालोचक इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन विषयों में धुलकी की दृष्टि मनोवैज्ञानिक के अन्तर्गत प्राचीन स्वरूप पर नहीं अपितु उनके समाजगत या जीवनगत व्यावहारिक स्वरूपों पर रहती है। कोई भी समीक्षक इन विषयों को कुछ मनोवैज्ञानिक नहीं कह सकता क्योंकि इनमें भाषा का कर्तव्य प्राचीन विवेचन नहीं है प्रत्युत व्यावहारिक विवेचन ही है। वैज्ञानिक क्षेत्र में कुछ बुद्धि ही सम्मिलित होती है हृदय निष्किय ही रहता है परन्तु साहित्य में दोनों की सम्मिलित प्रकृति है। कहीं बुद्धि की क्रिया को प्रधानता मिल जाती है और वहीं हृदय की क्रिया बुद्धि की क्रिया से घाते बढ़ने लगती है। वहीं बात हमें धुलकी के विषयों में परिलक्षित होती है। मनोवैज्ञानिक सम्बन्धी विषयों को इसी आधार पर साहित्यिक विषय कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त इन विषयों में उन्हीं भाषाओं की साहित्यिक व्याख्या की गई है जिसका रस-अभिरुचि के भाव सम्बन्ध है। निस्सन्देह इनमें वैज्ञानिक तथ्यों का समावेश है उस भाषा की मौलिकता सर्वप्रथम की प्रकृति ही है परन्तु मकल्ला एक धनुषों का निजी व्यक्तिगत तथा भावनाओं का पुट भी प्रकटित भाषा में विद्यमान है। विषय सभी तथा उदाहरणों की दृष्टि में भी ये साहित्यिक धनुष हैं वैज्ञानिक काम।

वैज्ञानिक समीक्षणक विषयों में भी प्राचीनता तथा मौलिकता का सम्मिश्रण स्पष्ट प्रतीत होता है। इनमें प्राचीन रस सिद्धान्त का समर्थन किया गया है परन्तु इसकी व्याख्या में परिवर्तन नवीनता है। प्राचीन भाषाओं की प्राचीन रस को किसी इतर लोक की धनुषों नहीं कहा गया है। रस सिद्धान्त

में दोष मूढि के साथ समात्मक सम्बन्ध की स्थापना तथा लोक सामान्यमूर्ति की कल्पना नहीं है। प्रत्यक्ष रूप-विधान की भी कल्पित रूप विधान के समान समोद्बोधक मानना उतनी नहीं उद्भावना है। प्रकृति के प्रत्यक्ष दर्शन में तथा कल्पित रूप विधान में समान रूप में रसानुमिति की खोजना स्वीकार करना एक नहींजाना ही है। शास्त्रीय सिद्धान्तों को समयानुबन्ध व्यापक बनाने के लिए उतनी नहीं व्याख्या में ही सुकनजी की मौलिकता निश्चिन्त है। उदाहरण के लिए साधारणीकरण के प्रसंग में रस की विविध छोटियों की उद्भावना और इस सिद्धान्त का नहीं वास्तव्य व्यक्ति वैचिन्त्यवाद के साथ सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न उतनी की निश्चिन्ता का स्पष्ट प्रमाण रहा जा सकता है।

भारतीयता—सुकनजी के निश्चिन्तों में भारतीय जीवन का ही चित्र चित्रोपपदा व्यक्ति हुआ है। भारतीय दर्शन के साहित्य तथा इतिहास के तथ्यों का ही चित्रोपपन्न उनके निश्चिन्तों में हमें मिलता है। 'उत्साह' के प्रसंग में उन्होंने बीजा के कर्म निश्चिन्त का समर्थन किया है। इसी प्रकार भारत में प्रचलित व्यक्ति मानना में में भारत की शास्त्रीय एवं परम्परा प्राप्त समुदाय व्यक्ति के प्रति ही धारणा व्याख्या व रसि प्रदर्शन की है। व्यक्ति के स्वयं निश्चिन्त में ही भारतीय परम्पराओं तथा रसों को ही अपने चिन्तन का प्रमुख आधार बनाया है। उतनी व्यापक इतिहास मुक्त भारतीय काव्य सिद्धान्तों के प्रति ही परिवर्तित होती है। यदि वही समोद्बोध व परिवर्तन भी हुआ है तो वह केवल भारतीय सिद्धान्तों को व्यक्ति व्यापक बनाने के समोद्बोध में ही हुआ है। समोद्बोधक सम्बन्धी निश्चिन्तों में धार के स्वयं के स्वीकार के लिए भारतीय जीवन में ही उदाहरण प्रस्तुत किए हैं—स्वात्म-ज्ञान वर भारतीय साहित्यिक रसों के उद्धार की भारतीयता के लक्षण रहे जा सकते हैं।

निश्चिन्त एवं व्याख्यात्मक चर्चा—विचारवात्मक निश्चिन्ता की साथ ही निश्चिन्ता प्रचलित है—धारमिक तथा निश्चिन्त। धारमिक ही में निश्चिन्त वर सामान्य में विषय की ओर जाता है रसानु बह सामान्य चर्चा

विचारों का विन्यास तथा उनकी व्याख्या करने के उपरांत निष्कर्ष के रूप में विधिष्ट सिद्धान्त या सूत्र बाक्य प्रस्तुत करता है माना वह उस निष्कर्ष तक तर्क व अनुमान के माध्यम से पहुँच सका है। इसी धीरे नियमन शैली का निबन्धकार विधेय से सामान्य ही धीरे प्रवृत्त होता है अर्थात् वह प्रारम्भ में ही अपने चिन्तन का सार, विधिष्ट सिद्धान्त या सूत्र बाक्य विन्यस्त कर देता है और तदनन्तर उसकी विवेचना उदाहरणों उद्धरणों व तर्क द्वारा करता चलता है। सुक्लजी के निबन्धों में प्रायः निगमन शैली का ही अनुसरण हुआ है। वे प्रतिपाद्य विषय सम्बन्धी अपना निष्कर्ष संकेत रूप में प्रारम्भ में ही कर देते हैं। फिर उसकी सुनिश्चित क्रम में व्याख्या करते चलते हैं। मनोविचार सम्बन्धी निबन्ध प्रायः इसी शैली में लिखे गए हैं। वही कारण है कि इन निबन्धों का प्रारम्भिक बाक्य एक प्रकार से सुक्ति रूप में ही मिलता है। 'अनुभूति के दृष्ट ही से प्राणी के जीवन का प्रारम्भ होता है' 'दुःख के क्षण में जो स्थान भय का है वही स्थान भगवत्त्वर्ष में उल्लाह का है' इत्यादि। निगमन शैली एक प्रकार से व्याख्यात्मक पद्धति ही है। प्रारम्भ में विन्यस्त सूत्र बाक्य की व्याख्या ही उक्त निबन्धों में प्रस्तुत की गई है। सुक्लजी ने बर्ष विषय की व्याख्या करने के लिए तुलनात्मक शैली का भी प्रचुरता से प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त वे अपने विषय के स्पष्टीकरण के लिए बीच-बीच में जनसंहार भी करते चलते हैं। निकटित विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए वे 'सारांस यह है' इस वाक्यांश से अपने निष्कर्ष संक्षिप्त तथा सारपूर्ण वाक्यों के द्वारा प्रस्तुत कर देते हैं।

समास शैली—विषय प्रतिपादन तथा स्पष्टीकरण के लिए नियमन तथा व्याख्यात्मक पद्धति अपनाते पर भी सुक्लजी के बाक्य विन्यास से समास शैली का ही संकेत होता है। इस शैली में बाक्य रचना इस रूप में की जाती है कि प्रत्येक बाक्य नवीन विचार को लेकर ही आता है। नवीन विचार के विषय नवीन बाक्य आता है पुराने विचार के लिए नया बाक्य नहीं आता है। विन्यस्त वाक्यों में इस प्रकार विचारों का ठोठा-सा बँध आता है। प्रायः प्रत्येक बाक्य विचारों का सघन-सा प्रतीत होता है। सुक्ल

जीक निबन्ध प्राप्त हमी दीवी में मिले गए हैं। उनका प्रयोग वाक्य विचारमात्रा का रूप बारीक कर लेना है। कहीं-कहीं व्यय पाठ का विन्यास नहीं। यद्यपि म में किसी वाक्य को विचारना नहीं जा सकता है। कई स्थानों पर ऐसे वाक्यों का विन्यास कर दिया गया है जिनकी स्वतन्त्र व्याख्या की भी संशयता है। इस प्रकार पाठक की साहस-कल्पना का उन्मत्तपिच्छ बड़ जाता है। यदि वह ऐसी व्याख्येय पदा की व्याख्या स्वयं नहीं कर पाता है तो कर्ण्य विषय के समझने में उस कठिनाई की प्रत्यूक्ति होती है। यही कारण है कि उनके निबन्ध कर्ण्य विषय तथा भाषा की दृष्टि में उच्च श्रेणी के विचार शीघ्र पाठकों के लिए ही उपयोगी बड़े जा सकते हैं। सामान्य एवं निम्नस्तर के पाठकों के लिए वे शीघ्र एक भार स्वरूप ही बन गए हैं। एक ही विचार को कई प्रकार के पदों तथा वाक्यों के द्वारा व्यक्त करना म जो एक प्रकार की उन्नतता भाषा में था आती है वह उनके निबन्ध में नहीं पा सकती है। विचारों के प्राथमिक भाग में भाषा यन्त्रण में ही प्रकटित होती है। यन्त्रण वाक्य की लम्बे हो गए हैं। 'व्यापक इहम्ब' 'अकृषिण और परिमित विद्याम' 'मनाबन्ध' 'आत्मदुःख' 'असमस्तत्रय घनमान' 'स्वल्प ईश्वर की ग्या' 'आदर्श रूप का लक्षण' 'सामान्य आदर्श और 'कल्प लीला का सारंग विचार' इत्यादि सभ्य तथा वाक्यांश विभिन्न वाक्यों में प्रयुक्त होकर बिना व्याख्या के मात्र स्पष्ट करने में कठिनाई उद्गम्य कर देते हैं।

भाषा का स्वरूप—उनके समाप्त-शैली के अनुसरण में सुबहरी को एक भाषा का स्वरूप लम्बे वाक्य बहुत हो गया है। सामान्यतः मनोविचार उद्बन्धी तथा मनीषात्मक निबन्धों में लम्बे वाक्यों के प्रयोग ही बहलता म हुआ है। बरन्तु मनीषात्मक निबन्धों में लम्बे वाक्यों प्राथमिक वाक्यों, महा वाक्यों और मोरोलियों का प्रयोगात्मक अधिक प्रयोग हुआ है। उनके अति रिक्त सम्बोधन (उनकी भाषा की उन्मत्तपिच्छ विशेषता है। वह सम्बोधन से सम्बोधन विषयों के प्रतिपादन के लिए मलम बड़ी जा सकती है। यही नहीं ह्याम-व्यय की प्रयोग भी इस सम्बोधन के प्राथम्य को इंगित हुई दिखाई पड़ आती है। मद्य भाषा की लम्बे निबन्धमानी का प्रायः उन्मत्ति

अनुसरण किया है। माबाबेस सभी का बहुत बड़े स्वर्गों पर ही प्रयोग हुआ है। कई ऐसे स्वर्ग भी हमें मिल जाते हैं जिनसे यह संकेत मिलता है कि उनकी भाषा में वस्तु अथवा वृत्तों के बिना प्रस्तुत करने की क्षमता बिना मान है। सबसे मूर्तिबिम्बायिनी धर्म का संकेत मिलता है। प्रायः भाषा इतिवृत्तात्मक है। भाषा प्रकाशन के अन्तर्गत विचारतात्मक निबन्धों में अत्यन्त होते हैं अतएव सुखमयी के निबन्धों की भाषा में भाषा प्रकाशन की बाध-उत्प्रेष विधेय धर्मियों का प्रायः अभाव है।

सुखमयी के निबन्धों की भाषा कहीं-कहीं काव्य वृत्तों से युक्त भी मिलती है। यह अलंकार नहीं जा सकती है। 'प्रकृत-प्रसून-प्रसार के सौरभ-संचार, मकरन्द लोचन मधुप-गुञ्जार, कोकिल कूबित तिकुञ्ज और लीलत-सुख-स्पर्श समीर' इत्यादि प्रयोगों में भाषा को अनुप्रास की छटा से सुशोभित करने की तथा काव्यगत सौन्दर्य की सृष्टि करने की प्रवृत्ति परिलभित होती है। हमके साथ ही कहीं-कहीं ऐसे भी स्वर्ग मिल जाते हैं जहाँ सरल तथा भाषा मयी सभी का अनुसरण किया गया है। जहाँ सुखमयी का हृद्य मह भाषा अपने अद्विष्ट प्रवाह के साथ पूरे वेग से बाध के समान धाये बढ़ता-बलता प्रतीत होता है। ऐसे स्वर्गों की भाषा में सुकृता या अस्पष्टता नहीं। यह हम निरसंकोच कह सकते हैं कि उनका भाषा पर पूर्ण अधिकार है। यह उनके न ^५ अन्वयमिनी एवं अस्पष्टिनी है। जैसे भाषा का प्रकाशन ^५ बाधक बन जाती है। उसके साथ भाषा के

सब ही अभिकरण प्रयुक्त होते हैं। कहीं-कहीं इस मध्य के माप हृदय का शोभ भी भाषा के शब्दों तथा वाक्यों में उच्चता प्रतीत होता है। अपनी भाषा में ही वे कहीं अस्मना करते घमकाते कीमते भूमनाते कहीं मनाप या भावम करत कहीं विकरप प्रस्तुत करते दृष्टिगोचर होत हैं। कभी-कभी उनकी नीतिवादिता पूरे बंग के साम घाने बडने मगनी है और उनकी भाषा म भाषम सीमी का विकास होने लगत है और व व्याम्यान बेंते प्रतीत होते हैं। मुस्लिमी की भाषा उनके व्यक्तित्व का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है। मगरीर विषय के विवेचन में मगरीरता तथा हृदय के भावों के प्रकाशन म सरमता इसी तम्य कर प्रकाश डालती है। तम्य तिमपद क बीच-बीच माबा भिष्यक भाषा का जततापन पर्याप्त रोचक बहा जा मकता है। शोचबाल में प्रयुक्त होत बासे उर्दु-मगरी के प्रचलित शब्द भी स्वच्छम्यता में धान मए ह। उदाहरण के लिए वास्तान हुरदम अमाना नागर बचक इजारा मुरीरत कुक-मगीब पैर, मीबन नजर, बुम सल-उम-हयाम घावि मग प्रस्तुत किए जा सकते हैं। माओकिबा तथा मुहावरों के यथा स्थान एक यथोचित रीति में प्रयुक्त होत में भाषा में प्रभावोत्पादकता की कृष्टि हुई है। नित्यमैह भाषा-विषयक मुस्लिमी का दृष्टिकोम बड़ा उदार था। वे भावों के अनुकूल भाषा को का प्रदान करने में पूर्ण निरुत्सुक रहे जा सकत हैं। उनके निरव्यों की साहित्यिकता में भाषा-मन्त्रों गुना का भी पर्याप्त भाग बहा जा सकता है।

सुविनयता—मुस्लिमी की तथाकथित समर्पिता के बुद्धि पथ का जैम हृदय बलि में सरमता प्रदान की बैसे ही उनकी मुक्तिमयता ने इस पथ का धानोक्ति किया है। उक्ति में केवल धम का शोचन बाधहोता है परन्तु मुक्ति धम प्रदानम म जमत्वारपूर्ण कौतुक सम्पन्न कर देती है। मगरीर ने धरने निरव्यों में ऐसी धनेक स्वरचित मुक्तियाँ विम्व्यत की हैं कि उनकी भाषा म साहित्यिक-मनोप की कृष्टि हो गई है। उनकी जीवतानुभूतियाँ बड भाविक इय में इन मुक्तियों के द्वारा बाधक तक पहुँचनी हैं। प्रायः प्रायेक कृष्ट पर ऐसी धनेक मुक्तियाँ उपलब्ध होनी हैं। मनोविचारसम्बन्धी

धनुस्तरण किया है। भावावेश शैली का बहुत बड़े स्तरों पर ही प्रयोग हुआ है। कई ऐसे स्थल भी हमें मिल जाते हैं जिनसे यह संकेत मिलता है कि उनकी भाषा में बस्तु-व्यवहार-दृश्यों के चित्र प्रस्तुत करने की क्षमता विश्व-मान्य है। उन्हींसे मूर्तिविद्यामित्री-सहित का संकेत मिलता है। प्रायः भाषा-इतिवृत्तात्मक है। भाव-प्रकाशन के अक्षर-विचार-आत्मक निबन्धों में प्रायः स्पष्ट होते हैं अतएव शुक्लजी के निबन्धों की भाषा में भाव-प्रकाशन की वाच-वर्त्य-विशेष-शैलियों का प्रायः अभाव है।

शुक्लजी के निबन्धों की भाषा कहीं-कहीं काव्य-गुणों से युक्त भी मिलती है। वह अलंकार-कही जा सकती है। 'अपुन्य-प्रमृत्त-प्रसार-के-सौरभ-संचार, मकरन्द-सौन्दर्य-मधु-गुंजार-कोकिल-कृत्रिम-निकुञ्ज-और-शीतल-सुख-स्पर्श-समीर' इत्यादि-प्रयोगों में भाषा की धनुस्तरण की शक्ति से सुतोषित करने की तथा काव्य-वच-सौन्दर्य की सृष्टि करने की प्रवृत्ति-परिभाषित होती है। हमके साथ ही कहीं-कहीं ऐसे भी स्थल मिल जाते हैं जहाँ अक्षर-तथा-भाव-मयी शैली का अनुसरण किया गया है। जहाँ शुक्लजी का हृदय-यत्न भाव-अपने-अभिराम-प्रवाह-के-साथ-पूरे-वेग-से-बारा-के-जमान-धामे-बढ़ता-चलता-प्रतीत-होता-है। ऐसे स्थलों की भाषा में दुर्बलता-वा-अस्पष्टता-नहीं। यह हम-निस्संकोच-कह-सकते-हैं-कि-उनका-भाषा-पर-पूर्ण-अधिकार-है। वह-उनके-भाषों-की-धनुस्तरण-एवं-अभिव्यक्ति-है। जैसे भाव-का-प्रकाशन-करना-होता-है-भाषा-बैसा-ही-रूप-बारण-कर-सती-है। उनके भाव-भाषा-के-रूप-से-अलग-अलग-नहीं-हैं। जहाँ-जहाँ-उनकी-हृदय-वृत्ति-में-धामे-बढ़कर-अन्त-बर्षा-के-पत्र-पर-अपना-प्रसार-किया-है-वहाँ-वहाँ-भाषा-अर्थात्-भावानुसार-ही-कही-जा-सकती-है। हृदय-वृत्ति-के-प्रसार-के-सङ्घटित-हस्त-ही-भाषा-अपने-सहज-संयत-गर्भ-संकीर्ण-रूप-को-बारण-करके-वृद्धि-वृत्ति-की-सेवा-में-निरत-ही-जाती-है। जहाँ-वै-किसी-कुप्रवृत्ति-के-प्रति-व्यंग-करना-चाहते-हैं-वहाँ-उनकी-विशेष-वृत्ति-सहायक-बनकर-भाषा-को-तदनुकूल-रूप-प्रदान-कर-देती-है। जहाँ-कहीं-ऐसे-हास्य-और-व्यंग-के-स्थल-उनके-निबन्धों-में-प्राप्त-हैं-वहाँ-भाषा-का-रूप-अस्पष्ट-अक्षर-है-और-वहाँ-प्रचलित-बोलचाल-की-भाषा-के-

शब्द ही अविचार प्रयुक्त होते हैं। कहीं-कहीं इस अर्थ का माय हृदय का क्षोभ भी भाषा के शब्दों तथा वाक्यों में उच्चता प्रतीत होता है। अपनी भाषा में ही वे कहीं अल्पना करते कमकाते शोभने में मत्तात कहीं मत्ताप या भाषण करने कहीं विवरण प्रस्तुत करते दृष्टिगोचर होत हैं। कभी-कभी उनकी नीतिशास्त्रिता पूरु बग के साथ साथ बढ़ने लगती है और उनकी भाषा में भाषण ऐसी का विकास होने लगता है और वे व्याख्यान देने प्रवृत्त होते हैं। मुसलमानी की भाषा उनका अविचार का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है। गम्भीर विषय के विवेचन में गम्भीरता तथा हृदय के भाषा के प्रकाशन में सरलता इसी तथ्य पर प्रकाश डालती है। तथ्य निष्पन्न के बीच-बीच भाषा निष्पन्न का भाषा का अमत्तापन पर्याप्त रोचक कहा जा सकता है। शोषण में प्रयुक्त होने वाले उद्गारों के प्रचलित शब्द भी स्वच्छन्दता में घाने गए हैं। उदाहरण के लिए बास्तान हुरदम अमाला लाशव बकद, इजारा मुरीबन हुक-अमीन यंद, मौबन नजर, जुम लल-उम-हवान आदि शब्द प्रस्तुत किये जा सकते हैं। लोकाकृतियों तथा मुहावरों के यथा स्थान एवं यथोचित रीति में प्रयुक्त होने में भाषा में प्रभाषात्पादकता की मूर्च्छा हुई है। निस्सन्देह भाषा-विषयक मुसलमानी का दृष्टिकोण बड़ा उदार था। वे शब्दों के अनुसंधान भाषा को न्य प्रदान करने में पूर्ण निष्ठ रहन वह जा सकते हैं। उनके निबन्धों की साहित्यिकता में भाषा-सम्बन्धी मुक्त का भी पर्याप्त भाग कहा जा सकता है।

सुविधायता—मुसलमानी की लघु-विषय प्रकाशना के बुद्धि पथ का जैसा हृदय कृति में सरलता प्रदान की गयी है उसी सुविधायता में न्य पथ को धारणित किया है। उक्ति में केवल धर्म का ध्यान मात्र होता है परन्तु सुविधायक प्रकाशन में अमत्तापूर्ण कौतुक अल्पन कर देनी है। मुसलमानी ने घाने निबन्धों में ऐसी घनक स्वर्चित्त सुविधायी विन्यन्त की है कि उनकी भाषा में साहित्यिक-अंशप की मूर्च्छा है। यह है। उनकी जीवनानुभविकता बड़े मानिक अर्थ में इन सुविधायी के द्वारा वाक्य नक पठेवनी है। प्रायः प्रायः बुद्ध पर ऐसी घनक सुविधायी उपलब्ध होती है। अनोविचार सम्बन्धी

निबन्धा में तो उतनी भरमार है। इनमें पर्याप्त काव्यत्व है। कविता की भाँति ये भी धीम्र ही धीम्र पर नाचने लगती हैं। उदाहरण के लिए कुछ सूक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत की जाती हैं— १ मक्ति धम की रसात्मक अनुभूति है २ कर्म सौन्दर्य के सपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं ३ प्रेम में बनत्व अधिक है मजा में विस्तार ४ यदि प्रेम स्वल्प है तो मजा आनन्द ५ कल्याण सत का सौदा नहीं ६ दूसरों का भय हमें मगा सकता है हमारी बुराई को नहीं ७ सोम सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख ८ ईर्ष्या अत्यन्त लज्जावती वृत्ति है ९ वैर श्लेष का भाषार या मुरब्बा है १० कर्ता से बढ़कर क्रम का स्मारक दूसरा नहीं।

इतिहास सम्बन्धी रचनाएँ—शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य का इतिहास भी लिखा है। प्रत्यय यह है कि क्या इस इतिहास को उनकी साहित्यिक रचनाओं में परिगणित किया जा सकता है। यदि यन्मीरता से विचार किया जाए तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिस रूप में यह इतिहास लिखा गया है उस रूप में यह संक्षिप्त साहित्य का एक विशिष्ट रूप माना जा सकता है। यह स्पष्ट इतिहास नहीं है इसने तो ऐतिहासिक समालोचना का रूप धारण कर लिया है। गुड इतिहास में व्यक्ति का प्रधानता नहीं ही जानी चर्चा उसमें जिससे नाम का अपना व्यक्तित्व प्रतिफलित नहीं होता है। साहित्यिक रचना के लिए व्यक्तित्व के प्रतिफलन की अपेक्षा स्वीकार की जाती है। शुक्लजी के इस इतिहास में कुछ अर्थ उठा जी है जिसमें उतना अपना निरपेक्ष चिन्तन स्वतंत्र मान्यताएँ, व बारजाएँ, शक्ति व प्रवृत्ति का आभास स्पष्टतया दिस सकता है। जिस भावविभी प्रतिभा से किसी कवि की समीक्षा की जानी है रचना के बुद्धतम रूहस्यो का अन्वेषण-विस्लेषण किया जाता है, उसकी अन्तः प्रवृत्तियों का निर्धारण व निरूपण किया जाता है वही भावविभी प्रतिभा इस इतिहास के मूल में भी परिगणित होती है। इस प्रकार इसमें ऐतिहासिकता और साहित्यिकता का सम्बन्ध हो गया है। ऐतिहासिकता कवियों के इतिवृत्त संघर्ष आदि के समान्यसे सम्बन्ध हो गई है और साहित्यिकता कवियों की रचनाओं की समीक्षा से समाविष्ट हो गई है। यह इति

हाम बहियों की छत्र प्रकृतिया बहियों साहित्यिक विवेचनाओं इनकी पारम्परिक समताओं व विषयताओं के अध्ययन में भी सहायक हो सकता है। समीक्षात्मक ग्रन्थों के अध्ययन उनकी साहित्यिक बहियों के निर्माण में स्वल्प निर्धारण में पक्ष-व्यवधान में उपयोगिता मानी जा सकती है। यद्यपि साहित्य-समीक्षा और साहित्य के इतिहास में सामान्य भिन्नता जानी है तथापि युक्तजी ने अपने इस इतिहास में इन बातों में समझना सम्पादन कर दी है। यह 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' इतिहास के सामग्रीला भी है अतएव यह साहित्य का ही एक धम बन गया है।

युक्तजी के इस इतिहास में उनके व्यक्तिगत वा अनुभवगत किया जा सकता है। वही वही उन्होंने अपने वैयक्तिक जीवन का भी धम प्रस्तुत किया है। विषयगत उनका व्यक्तिगत बहियों की समीक्षा तथा मूल्यांकन में प्रतिबन्धित हुआ है। बहोर तथा वेग के इतिहास का उद्देश्य वाग्य वाग्य युक्तजी ने अपनी शैक्षणिक व साहित्यिक माध्यमों का प्रमुखता दी है। कुछ इतिहासकार वैज्ञानिक की भाँति निरपेक्ष होकर इतिहास का विवरण प्रस्तुत करता है परन्तु उन्होंने मापेपता में उक्त बातों बहियों का इतिहास प्रस्तुत किया है। वही मापेपता प्रायः प्रत्येक वाक्य के बहियों के विवरण व विवेचन में निष्ठ की जा सकती है।

युक्तजी के व्यक्तिगत की सबप्रमुख विवेचना वैज्ञानिक शक्ति है। हिन्दी साहित्य का इतिहास सिंगने में पूर्व उन्होंने अपनी इसी प्रकृति में प्रति हाकर 'वाक्य विभाजन' किया और तदनन्तर अन्वेषण-अन्वेषण की प्रक्रिया में इतिहास के स्वरूप को उद्घाटन की है।

साहित्य के इतिहास की परिभाषा—युक्तजी ने वाक्य विभाजन के आधार की प्रक्रिया के लिए सर्वप्रथम 'साहित्य' के इतिहास की परिभाषा निर्धारित की है। वे कहते हैं "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वही की जनता की चिन्तन का अन्वेषण प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चय है कि जनता की चिन्तन के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता जाता है। यदि मैं अन्य एक इन्हीं चिन्तनियों की

परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है।

काल विभाजन—उक्त परिभाषा को अपना मूल आधार बना कर मुक्तजी ने 'काल विभाजन' के लिए 'चित्तवृत्ति' को ग्रहण किया है। कवियों की सामान्य चित्तवृत्ति का अनुसंधान करके साहित्यिक प्रवृत्ति का निर्धारण और उस प्रवृत्ति के विस्तार के काल के अनुसंधान के द्वारा विकास-क्रम की सीमा का निर्धारण इस इतिहास के काल विभाजन के प्रमुख कार्य कहे जा सकते हैं।

नामकरण—कालक्रम का विभाजन करने के उपरान्त उसका नामकरण भी विशिष्ट साहित्यिक रचनाओं की बहुसंख्या को दृष्टि में रखते हुए किया गया है अर्थात् एक काम में जिस प्रकार की रचनाएँ अधिक संख्या में मिलित हुई हैं उन्हीं के आधार पर उन्होंने उस काल विशेष का नामकरण कर दिया है। यही कारण है कि उन्होंने प्रत्येक काम के प्रारम्भ में 'सामान्य परिचय' लिखा है। उन्होंने हिन्दी साहित्य के तीनों वर्गों के इतिहास का निम्नलिखित रूप से विभाजन व नामकरण किया है—

१. प्रादिकाल (बीरपावा काल संवत् १ २ — १३०२) २. पूर्व मध्यकाल (सकलकाल संवत् १३०२—१७) ३. उत्तर मध्यकाल (सीत काल संवत् १७ — १९) ४. प्राधुनिक काल (यद्य काल संवत् १९ — १९८४)

बीर पावा काल—(१ २ — १३०२) तीन सौ पञ्चीस वर्ष के इस

धीर्ब काल के नामकरण का आधार चित्तवृत्ति ही है। इस नामकरण के सम्बन्ध में बोलते हैं कि "प्रादिकाल ही इस धीर्ब परम्परा के बीच प्रथम बड़े ही वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का नियन्त्रण नहीं होता है। बर्तनीति गुणार बीर सब प्रकार की रचनाएँ बोलो में मिलती हैं। इस अनिश्चित लोक प्रवृत्ति के उपरान्त जब से मुसलमानों की आक्राणों का प्रारम्भ होता है तब से हम हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप से संबन्धी हुई पाते हैं। राजाधित कवि और चारण जिस प्रकार नीति

गुणार धादि के फूटकर लोहे राजममाया मे मुनाया करने व उसी प्रकार अपने धामय-राजा राजाधों के पराक्रम पूर्ण करिनों या गाबाधों का वर्णन भी किया करते थे । यही प्रथम परम्परा 'रामा के नाम म पाई जाती है जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने 'बीरमाया काल' कहा है ।"

यह स्पष्ट है कि उन्होंने काल विभाजन तथा नामकरण म रचनाधों और उनकी विधय प्रकृतियों का ही प्रधानता था है रचनाध कवियों को नहीं । इस प्रकार काल का नामकरण करके फिर उन्होंने उनका चिन्मयन किया है । इस काल के माया स्वरूप का धाधार बना कर उन्होंने इसे तीन धामों में विभक्त कर दिया—अवभय काल हेम माया काश्य (बीरमाया) फूटकर रचनाध । फिर इस तीता का पुनव-यमन विवेचन किया है । इस सारे वर्गीकरण और विवेचन में उनका ध्यक्षित्व स्पष्ट मयकता है । व काव्यात्म के लिए स्वामाधिक अनुभूतियों को महत्व देन है । यही बात हम यही मिसनी है । वर्गीकरण करन हुए इमीनिण उन्होंने 'अवभय काल' शब्द का प्रयोग किया है 'अवभय काश्य' नहीं । इसके विपरीत 'रम माया काल' म बहु कर 'रिप माया काश्य का प्रयोग किया है । अवभयी मित्तों और माणियों की रचनाध को कुछ माहिन्य के धर्मर्दन नहीं मानने है क्योंकि उनम माग्नायिक मिश्राएँ तो है परन्तु उनका जीवन की स्वामाधिक अनुभूतिया और रमाया के माय काई सम्बन्ध नहीं ।

'रामों' धर्मों की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता सम्बन्धी मारा विवेचन 'निबन्ध' रूप का संकलन करता प्रनीन हुआ है । फूटकर रचनाधों क प्रकरण में भी उनक ध्यक्षित्व की भावक मिसनी है । उनकी म्बि व प्रबन्ध विद्या पनि क प्रमंय की इन पंक्तियों में देखी जा सकती है— "आध्यात्मिक रूप के धाम धात्र-वय बहुत सन्ने हो गए है । उन्हें बड़ाकर जैसे कुछ माया मे 'धीन पौबिम्' के पने का आध्यात्मिक संकेन बनाया है जैसे ही विद्यारति के इन पने को भी । मूर धादि कृप्य मक्तों के म्पद-री पनों की भी ऐसे मोय आध्यात्मिक ध्याना चाहते है पना नहीं बाल तोना के पनों का ने बना करेपे ।"

भक्ति काल—इस काम में विवेचन व इतिवृत्त वर्धन का उभय क्रम ही दृष्टिगोचर होता है। 'सामान्य परिचय' में उस सामान्य चित्तवृत्ति का परिचय दिया गया है जिसके आधार पर काल की सीमा का निर्धारण तथा नामकरण किया गया है। तदनन्तर विशेषताओं के आधार पर इस काम की रचनाया का वर्गीकरण करते कवियों का इतिवृत्त तथा उनकी कृतियों की धारणा प्रस्तुत की गई है। यह 'सामान्य परिचय' एक प्रकार से भक्ति काम विषयक निबन्ध ही है। इस प्रकार इतिहास सम्बन्धी यह ग्रन्थ साहित्यिक रूप धारण कर लेता है। मुसलमी की समन्वयवादी प्रवृत्ति तथा कम शीघ्र ही रचि स्पष्ट रूप में इस परिचय की पंक्तियों में मिलती है। इसमें विषय की प्रामाण्य के साथ व्यक्तित्व की सत्ता भी परिमणित होती है। भक्ति काम की विभिन्न धाराओं का स्वरूप तथा इनके अन्तर्गत जाने वाले कवियों के इतिवृत्त और रचनाओं की समीक्षा इस प्रकार से प्रस्तुत कर दी गई है। मनीषा वा आधार भी कुछ रूप से भारतीय काव्य सिद्धांतों को बनाया गया है। इतिहासात्मक कवियों की मण्डित सारपूर्वक समीक्षा साहित्यिकता का पूर्ण परिचय देती है। विद्वन्मय मानव के कृतानुसार साहित्य के इतिहास को विश्व भवन समझना चाहिए। इस विश्व भवन में साहित्यकारों के भावनात्मक विश्व के साथ उनके हृदय और मस्तिष्क के विश्व भी रहने चाहिए। मुसलमी का इतिहास इसी प्रकार का विश्व भवन है। इस दृष्टि से वे एक निपुण चित्रकार कहला सकते हैं।

एक ही धारा के प्रायः कवियों के साथ किसी कवि की तुलनात्मक समीक्षा ऐतिहासिक समीक्षा नहीं जा सकती है। ठीक यही रूप है इस इतिहास में स्थान-स्थान पर मिलता है। प्रेममयी कवियों की परम्परा का इतिवृत्त प्रस्तुत करते हुए उन्होंने प्रेम काव्यों में कवित्व कथाओं का साराप रोचक रूप में प्रस्तुत किया है। यह ग्रंथ भी पूर्ण साहित्यिकता का विषयक है। तुलसीदास के दर्शन में निर्णयार्थक मनीषा का भी रूप इतिहास में मिल जाता है जब वे यह लिखते हैं कि भारतीय जनता वा कवि यदि किसी को यह सचते हैं तो तुलसीदास को। इतिहासात्मक ऐसे

समीसारमक स्वयं सुवमजी क व्यक्तित्व का पुरा धामाम बेते है। उनकी हृदयवृत्ति इतिहास की मरुभूमि का अपनी सज्जता म हरित धाडम क रूप मे परिवर्तित कर बेती है। ऐम ही स्वयं क कारण यह इतिहास उनकी साहित्यिक प्रतिभा को नूचित करता है। उन स्वयं की भाषा भी धनदुन एव मर्म स्पर्शिमी है वह काव्य गुणा म सुवन नहीं जा सकती है। कयब और बिहारी की समीसाधा म उनकी हृदय वृत्ति स्पष्ट भयकती प्रतीत होती है। भाषना भाषा मे बल का मचार कर वती है। भाषनाधा की प्ररमा पाकर जब मुस्लजी जिमी कवि की ममीभा कगत हुए धपना निर्णय प्रस्तुत करते हैं तो उसम पर्याप्त प्रभावोत्पादकता उत्पन्न हो जाती है। ऐसे निर्णयों में तक और भाषना का समन्वय भाषा म मजीबना की नृष्टि कर बेता है।

सांस्कृतिक काव्य—सांस्कृतिक काव्य के प्रदग्म म भी उनक व्यक्तित्व की भाषी स्वात-स्वान पर हमार सम्मुख धानी है। एक धामोचक की यह उक्ति कि 'स्वान-स्वान पर साहित्यिक व्यस्य हिन्दी साहित्य क इतिहास की एक विशेषता है' वास्तव म सारपुन एव मय्य नहीं जा सकती है। इस कास के विवेचन में ही उनकी व्यस्य प्रवृत्ति को धरने प्रचार क लिए धनेव धरकर विमते रहे हैं। इन नृष्टि से त्रितीय उदाहण का प्रकरण विधाय उत्पन्ननीय है। इसके धतिरिक्त कई बार क तृतीय उदाहण का विवरण ही पुर्यतया साहित्यिकता का ही स्मारक कहा जा सकता है। उनकी भाषा उनकी विवेचन धमी उसकी भाषाभिष्यक्ति उनके विचारों की गम्भीरता ममी काव्यत्व क गुणो मे भरपूर है। सुवमजी की ध्यावावादी प्रवृत्ति के सम्बन्ध में अपनी धारणाएँ क धावनाएँ विभिन्न रूप म धरकर बार उधवनी धीरती परिवर्तित होनी है। नहीं उनका धोम कहा उनका ध्याय उदाहण नहीं उनकी नृष्टि-प्रवृत्ति नहीं तब पुर्य वृत्तिधों इस धार प्रकरण की मजीब एवं प्रभावोत्पादक काव्यस्वरूप मे परिवर्तन कर बेती है। यह मारा प्रमय साहित्यिक विचार्य या काव्यमक धामोचता का उदाहण स्वरूप उन्निधन करता है। ध्यावावाह रूयधार के धार प्रमुग्य धाधार सग्धों धवधकर

रघाद, सुमित्राजन्मक पंत सूर्यकान्त त्रिपाठी त्रिराजा तथा महादेवी वर्मा की इतिया की समीक्षा उनकी साहित्यिकता का ही संकेत करती है। उनकी ऐतिहासिकता पर साहित्यिकता का भीना आधारन बढ़ता परिलक्षित होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि उनका यह 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' भी एक प्रकार से साहित्यिक रचना ही है। इनके द्वारा जीने अपनी बात को प्रबल युक्तियों तथा उदाहरणों के माध्यम से सिद्ध करने का यत्न करते हैं और उने दूसरों के हृदय और अस्मितक तक पहुँचाने का उपक्रम करते हैं। इसे भी वे आलोचना के समान साहित्यिक गति के नियन्त्रण में लावन बनाना चाहते हैं। साहित्य के समान इसमें भी वह व्यक्ति निहित करना चाहते हैं जो पाठकों के हृदय पर अपनी प्रभित प्राप्त उत्पन्न कर सके। निस्संदेह उनका यह इतिहास आलोचना-साहित्य के समान रचनाकारों की अन्तर्दृष्टियों के मुहान विरोधन में और रचनाओं में अन्तर्ध्वस्त मुख्य गहरणों के अनुशीलन से पूर्ण सहायक कहा जा सकता है।

अनूचित चत प्रबन्ध—राज्य भाषाओं की पद्यात्मक रचनाओं का अनुवाद कुलपत्री ने किया है। वे अनुवाद अंग्रेजी तथा संस्कृत भाषा के ग्रन्थों के हैं। अधिक संख्या अंग्रेजी से अनूचित ग्रन्थों व लेखों की है। अनूचित ग्रन्थों को सर्व्व विधय के आधार पर चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—
१. शिशात्मक २. चार्चनिक ३. ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक ४. साहित्यिक।

शिशात्मक ग्रन्थों से 'राज्य प्रबन्ध शिशा' और 'घादर्य जीवन' नामक दो ग्रन्थ लिए जा सकते हैं। 'राज्य प्रबन्ध शिशा' नामक ग्रन्थ सर टी० पापवराज के Minor Hints नामक अंग्रेजी ग्रन्थ का अनुवाद है और 'घादर्य जीवन' स्मार्न के Plain living and high Thinking' का अनुवाद है। Minor Hints की रचना महाप्राय सपावीराज को राज्य प्रबन्ध की निष्ठा इनके लिए की गई थी। अनुवाद करते समय कुलपत्री ने मूल ग्रन्थ के कुछ अंशों को बीच-बीच में छोड़ दी लिया है और 'अवधिष्ट' के रूप में महाप्राय विनाग द्वारा विविध 'उपस्थुके पारो के लिए कुछ धमन वार्ने' दीर्घक लेख भी संकलित कर दिया है। 'घादर्य जीवन' में मूल

पुस्तक के कुछ अंश भारतीय विद्यापिठा के लिए अलाबम्यक सम्भार छोड़ दिये गए हैं। दुष्टान्त रूप से मूल पुस्तक में वहाँ यूरोप के प्रसिद्ध पुस्तकों के तुलनात्मक भाग हैं वहाँ असाध्यमय भारतीय पुस्तकों के दुष्टान्त दिये गए हैं। इस प्रकार यह अनुबाध भारतीय पाठकों के लिए उपयोगी बना दिया गया है।

दर्शन सम्बन्धी विषय को लेकर उन्होंने 'विश्व प्रपञ्च' नामक धर्मूदिन ग्रन्थ लिखा है। यह अर्धम शार्पनिक हैकल की विख्यात पुस्तक *Riddle of the Universe* का अनुबाध है। युक्मजी इस पुस्तक के द्वारा हिन्दी के पाठकों को प्राधुनिक भौतिक विज्ञान तथा दर्शन से परिचित कराना चाहते हैं। मूल विषयों को ध्विक स्पष्ट करने के लिए उन्होंने इस पुस्तक के प्रारंभ में लक्ष्मण रेड् मी पृष्ठों की सूचिका लिखी है। यह सूचिका उनके धार्शनिक व वैज्ञानिक दर्शनों के सम्भार सम्भयन व मनन का परिचामस्वरूप है। सूचिका में भौतिकी *Physics* के मूल भूत तत्त्वों का सामान्य परिचय करवाया गया है। मान ही जीव विज्ञान *Biology* और धार्शनिक के विषय बाद की चर्चा कर दी गई है। इनके अनिरीक्य प्रसंगानुसार रसायन शास्त्र *Chemistry* तथा भूपर्य विज्ञान *Geology* सम्बन्धी तत्त्वों पर भी विचार प्रस्तुत किये हैं। अन्तिम भाग में भौतिकवाद तथा मानवाद (अध्यात्मवाद) के पक्षों के तर्क भी उल्लिखित हो गए हैं। मूल पुस्तक में प्राणियों के विषय में तथा पारमा ईश्वर, प्रकृति आदि धार्शनिक विषयों के सम्भयन में विवेचना है। अनुबाध को भारतीय पाठकों के लिए विषय उपयोगी बनाने के लिए उन्होंने तुलनात्मक तथा दुष्टान्तों के विख्यात से कुछ सामान्य परिचय दायर किये हैं। युक्मजी के धार्शनिक तत्त्वों का स्वरूप इन धर्मूदिन ग्रन्थ की सूचिका में स्पष्ट किया जा सकता है।

ऐतिहासिक तथा आरंभिक अनुबाध तत्त्वों में डॉक्टर रवानबक द्वारा लिखित *Megasthenes Indica* का अनुबाध भियास्त्रिनीज का भारत वर्षीय विवरण प्रसिद्ध है। अर्ध विषय की स्पष्टता के लिए इनके प्रारंभ में भी सूचिका है। इन सूचिका में अरुणक्ष और विष्णु के विषय में

नहीं। शुक्लजी ने मूम उपम्यास के पार्श्वों में सैम्बमीति और उद्यही बहुत मासती का भी समाधिष्ट कर दिया है। उद्यही कारण क्या के प्रवाह को अपनी कल्पना के अनुकूल बदलन की चेष्टा ही है। वे क्या का धन मार तीव्र परम्परा के अनुकूल मुखात्थ करना चाहते व यतएव उन्हीं इतिहास के क्षेत्र से ऐत तथ्यों का उद्यम किया जो उनकी उद्यम चेष्टा में सहायक हो सकत थे। फलतः उन्हीं ने मूम क्या में दो नवीन पात्रों का समावेश करके नवीन तथ्यों की नृष्टि कर दी। मूम पुस्तक में करम रम की पुष्टि के लिए मगोबबल को क्या सतिका का सदाक वर प्रम दिखाकर 'मगोब' के जीवन के साथ ही उसके जीवन का भी धस्त कर दिया गया है परन्तु रूपान्तर में उन्हीं सतिका का प्रम सैम्बमीति पर दिखाकर उद्यम प्रम को सफल किया है। सैम्बमीति की बहुत मासती का धर्मुत तथा धर्मीक प्रेम सदाक के प्रति प्रदर्शित किया है। इस प्रकार इस धनुषार में उन्हीं अपनी कल्पना धर्मि का संचार कर दिया है।

इस धर्मुत प्रमों के धर्मिरुध शुक्लजी ने कई धर्मुत के मेला का भी हिन्दी में रूपान्तर किया है। इस धर्मुत लक्षों को विषय की दृष्टि से देखने से विदित होता है कि इनमें मनोविज्ञान दर्शन प्राचीन इतिहास तथा सस्कृति के साथ सम्बन्ध रखने वाले विषय ही हैं। 'मसकृत्य' 'नरा चार और धर्म प्रकृति 'प्रमति व उद्यति उद्यका नियम और निदान' धर्मि मख दर्शन व मनोविज्ञान सम्बन्धी हैं। 'भारत का प्राचीन इतिहास' 'प्राचीन भारतवासियों की सपुत्र यात्रा' 'भारत के इतिहास में हन' 'बुद्धधर्म तथा 'प्राचीन भारतवासियों का पहिरावा' धर्मि मख भी शुक्लजी की रचि व प्रकृति वर बुद्ध प्रकाश दासते हैं।

धर्मि विषय की दृष्टि से तो इन धर्मुत में उद्यों व पुष्पों का महत्व स्पष्ट हो है। धर्मुत में धर्मुत विषय का धर्मुत भाषा में लिख जा रहा व धर्मुत धनुषार में व विषय हिन्दी पाठकों व लिखकों के सम्मुख धर्मि मने धर्मुत उनमें धर्मुत धर्मुत व धर्मुत की प्रकृति को प्रोत्साहन मिलन गया। धर्मुत की दृष्टि में भी इनकी विविध उद्योपदिष्टा प्रतिसाधन की या नवीनी

है। विद्वान् प्रबंध' जैसे भौतिक व रासायनिक विषय वाली पुस्तक के द्वारा भाषा में नवीन-नवीन पारिभाषिक शब्दों का प्रचलन होने लगा। मुसलमानी से अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों को हिन्दी रूप देते समय बड़ी तत्परता से काम लिया है अतएव ये शब्द बहुत उचित एवं सजसज बन सके हैं। इन शब्दों के द्वारा हिन्दी गद्य में भाषाविभ्रंशकता की दक्षिण बढ गई है। इस प्रकार हिन्दी गद्य के विकास में उनके ये अनूदित ग्रन्थ भी अपना विशेष स्थान व महत्त्व रखते हैं। इनकी भाषा प्रीङ्ग प्राञ्जल तथा सुपरिष्कृत है।

अनूदित ग्रन्थों में 'अष्टाङ्ग श्रीर 'वस्तुना का ध्यानम्' व दो ग्रन्थ ही साहित्यिक क्षेत्र के हैं। इन दोनों ग्रन्थों की भाषा हिन्दी गद्य के प्रीङ्ग रूप तथा अनेक गद्य लेखियों के उदाहरण प्रस्तुत करती है। 'अष्टाङ्ग' उपन्यास की भाषा वास्तव में कथा साहित्य के लिए अत्यन्त उपयुक्त एवं भावार्थ भाषा है। शब्द चयन की दृष्टि से यह उत्तम सुन्दर प्रमाण है। वृत्तविधियों में वस्तु वर्णनों में प्रायः शब्द श्रुद्ध सञ्चलित के हैं। उत्तम शब्दों की प्रतिपादना होने पर भी इस गद्य रूप में कहीं भी दुबलता तथा अस्पष्टता नहीं है। यह पर्याप्त सरल एवं सुबोध है। उसमें अपेक्षित प्रवाह है। कथा प्रसंगों के विवरण प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक स्पष्टता सर्वत्र विद्यमान है। वाक्य प्रायः सर्वत्र छोटे-छोटे तथा सरल हैं। समास शैली का नाम निघान तक नहीं है। व्यास शैली की ही सरलता सर्वत्र उपलब्ध होती है। भाषादेश की स्थिति में गद्य भाषा का रूप भी आदेशपूर्ण परिलक्षित होता है। उदात्त शैली की व्यावहारिकता भाषण शैली का शोचपूर्ण प्रवाह भाषादेश शैली का धारा-निरवमय प्रवाह गद्य रूप को अत्यन्त मध्य परिष्कृत एवं प्रीङ्ग स्वभाव प्रदान करता है। कहीं-कहीं गद्य-शैली से ये रूप भी उपलब्ध हो सकते हैं। शीकोशितियों और मुहावरों के प्रयोग में प्रीङ्गभाषा की व्यावहारिकता—मौगिका में अस्पष्टताय नृदि हो गई है। हिन्दी गद्य के विकास में भाषा की दृष्टि में जो स्थान उनके समीक्षात्मक निबन्धों का उनकी धार्मिकतात्मक दृष्टियों का है वही स्थान उनके पद्यात्मक अनुवाद-ग्रन्थों का भी दिया जा सकता है। उनकी यह दैन की चिरम्बरधीय एक महत्त्व पूर्ण है।

आचार्य शुक्ल नवीन आलोचकों की दृष्टि में

मुख्यरी के आचार्य और साहित्यकार रूप की विचार विवेचना करने के उपरान्त हम हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में उनका स्थान निर्धारित कर सकते हैं। आधुनिक काल के प्रायः सभी प्रमुख आलोचकों में उनके सम्बन्ध में अपनी-अपनी आख्या विभिन्न अवसरों पर अपने लेखों में या कन्वेंशनों में प्रकट की है। यदि उनका सम्मीक्षा में अनुपातन किया जाए तो उनके स्थान में महत्त्व को समझने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती है।

सामान्यतः सभी आलोचक यह स्वीकार करते हैं कि मुखरी की रचनाओं का उनमें वर्णित काल्य सम्बन्धी चारपायों का आधुनिक काल के प्रायः सभी आलोचकों तथा पाठकों पर महत्त्व प्रभाव बढ़ा है। हिन्दी समीक्षा क्षेत्र में तो वे अपनी मौलिकता तथा साहसिकता के कारण युग के विधासक हैं। समीक्षा का वास्तविक पक्ष प्रकट कर उनकी साम्यताओं को लेकर ही स्थापित किया जा रहा है। समीक्षा सम्बन्धी उनका चिन्तन की प्रथमा प्रायः सभी करते हैं और यह कहते हैं कि उन्होंने भारतीय तथा विश्वी काल्य समीक्षा का अनुपातन कर अपनी समीक्षा-पद्धति स्थापित की है। भारत की अन्य भाषाओं में इतना व्यापक और स्वल्प काल्य चिन्तन हम नहीं बिना है। विद्वान् मुखरी के इस स्वल्प चिन्तन में हिन्दी भाषा में सम्पन्न हो गया है।

मुखरी का हिन्दी साहित्य में विद्यमान सभी विधाओं में विचार अनुपातन तथा प्रभावण का ही ही विचार स्थान में महत्त्व दिया जाता है परन्तु उनके समीक्षात्मक काल्य समीक्षात्मक रूप की कक्षा व्यापक हुई है।

प्रथम वास्तव में उनका स्वान धार्याय रूप से हिन्दी साहित्य में प्रथिक् पुनिरिचित एव सुस्तिर है। इसी रूप को लेकर उनके सम्बन्ध में—पक्ष विपक्ष में—प्रासोचनाएँ की गई हैं। इसी रूप ने प्राञ्चनिक साहित्यिकों तथा समीक्षकों को प्रासोभित एव उत्तेजित किया है। नवीन प्रासोचकों की दृष्टि में सुस्तजी के स्वान को स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ कुछ प्रासोचकों की सम्मतिमा प्रस्तुत करते हैं।

शैलेन्द्रकुमार—श्री शैलेन्द्रकुमार जी ने सुस्तजी के साहित्य-समीक्षा सापर के प्रासोङ्कन-विमोङ्कन के परिचाम स्वरूप गी रत्न प्राप्त किए हैं। उनका जमस उस्सेख बहाँ किया जाता है—

१ “सुस्त जी ने सत्य को धात्म समर्पण द्वारा नहीं बल्कि बौद्धिक प्रयत्नवाद के द्वारा ग्रहण किया। परिचामस्वरूप त्याग की ज्योति धीर समन्वय की सक्ति उत्तमी उत्तम नहीं बनी जितनी प्रतिपादन की प्रवत्तता धीर स्थिति बर्न के समर्पण का धारह पुष्ट हुआ।

श्री शैलेन्द्र जी को सुस्तजी के विषय-प्रतिपादन में सरसता भावमयता तथा प्रवतिधीलता के दर्शन नहीं हुए। इन्हे उनका विषय प्रतिपादन कुछ भीरस ठरक पूर्ण तथा प्राचीन पक्षो का समर्पक ही दृष्टिपोचर हुआ है। निस्तम्बेह सुस्तजी समीला को ठरक पर धाररित बेसता चाहते हैं। केवल हारम की अनुभूतियों पर ही सते धरनम्बित नहीं करना चाहते। यह भी सत्य है कि ने नवीन धारधारय सिद्धान्तों को प्राचीन सिद्धान्तों की कसौटी पर कलकर ही ग्रहण करना चाहते हैं। श्री शैलेन्द्रजी के समान वे धरिम्बंजना बाबी बोधे के प्रसंसक नहीं बन सके। श्री शैलेन्द्रजी को बोधे प्रथिक् सही धीर मुकमबर्षी लयते हैं। यह तो बधि-भेद के ही कारण है।

२ “बह स्थिति के प्रतिनिधि धीर गति के विपक्ष में स्थिति के पक्ष के मोहा के रूप में लड़े हुए धीर पूम्डे। बह भीर से।

सुस्तजी की साहित्यिक बीरता का स्वरूप वास्तव में सत्य है परन्तु इसका कारण केवल हट या हुटपह नहीं धरिनु उनका सत्याग्रह है। भीर नहीं है जो सत्य की रखा में धरिग रहे। सुस्तजी श्री शैलेन्द्र जी के

कर्मतानुसार मनुष्य को मर कर नीचे ही बन्धु की धर्मविषय गटोरने की धोर प्रवृत्त होन बाये व उनकी नीच मजबूत की धोर वे ध्योरों म नही भुसने वे । इस प्रकार मवेयता धोर धर्मबसाय की धर्मि म आ मस्य ग्ग धुसनी के हाय में धाया वा उमके प्रतिपादन व समर्थन म यदि व इनकी कट्टरता म धाये न बहने तो वे भी पश्चिम की माहितिक बाड म उसी प्रकार बहने मगते जिस प्रकार उनके लकाकविन प्रति पत्नी बरते रहन है धोर धर्मना-पन ही गेवाने रहे है । धुसनी की धर्मबान्ता कगेगता उनके बटीये ध्यय इसी दृष्टि मे स्पृहणीय पय सधन है ।

३ धर्मि धोर समाज को धर्मोपवासय मे नही बल्कि धर्मि की समाज के निर्मित उन्हीमे ममभ्य । परिधायन समाजनीति की कीमन बापी म धर्मि धोरधर्मिधायन माधना की कीमन बापी मे बल उन्हाने धोपी ।

धुसनी मे तुमनी के बाध्य म भोकर्म मोकनीति धोर मर्वाशाबाद तथा मगलाना की कर्मना की है । उन्हे तुमनी क बाध्य म ध्यायन मरु-कर्मना की मयममपी ग्योति के दर्शन हुए है । धी र्जननी की धारणा के धनुसार 'गामधर्मिधायन तुमनी क धर्मिधायन का निर्णय धायन निर्णय है । यदि कही समाजनीति के बिना एव धर्मि धोर की मोपी उममे इय लय्य होनी है वा उममे तुमनी का धयना की प्रयान नही क्योंकि यदि वा धान नीतिधान नही धायनान है । इसी धारणा के धारणा पर इन्हनि धुसनी की पर यह धाधय किया है कि वे निर्णय म उन्कर लर्क वा मरगा मान कर धय है । इसीमे बाध्य मे प्रबगाहन करते हुए व बाध्य मे ही रह यण है यदि लर नही पडुध मके है । तुमनी को उन्हीमे बहुन-बृछ धयनी लम्बीर में देगा है उनके धानन धिध म नही । इसी धारण धर्मिधायन साधना धोर लोकर्ममधयधुवासाय धोर नाधयबहाय धादि म विरोध धेनने वा उन्हे धाधार होना पडा है । यह धाधयमाबाध्यन धर्मिधायन के लय्यय म प्रव-निध लकीन माधनापी वा धर्मिधायन मरुत्व धेन के ही धारण म ही मथा है । धुसनी भी धर्मि धी उगेधा नही करते है । धर्मि वा धर्मिधायन ही धायनध धर्मो वा धय धारण करके धाधार हाया है इस लय्य वा भी

उन्होंने विरोध नहीं किया है। तुलसी की समीक्षा करते हुए भी उन्होंने तुलसी के व्यक्तित्व की ही छात्रबीन की है। यह धम्म बात है कि उन्हें उक्त व्यक्तित्व में सामाजिकता के लोकाधर्म के मर्यादावाद के मयलाघा के बीच संकुचित एवं पस्तकित दिखाई पड़े है। समाजनीति की स्थापना या व्याख्या के लिए कवि की उल्लास करना उनका ध्यम नहीं है। वे तो काव्य समीक्षा में नीति-धनीति या गुण-अधुम इन शब्दों के प्रयोग को ही उचित नहीं समझते है। निम्नबेहू शुक्लजी व्यक्तिगत साधना की अपेक्षा लोकाधर्म के अनुष्ठान को अधिक श्रेयस्कर मानते हैं। तुलसी के व्यक्तित्व में उन्हें यही लोकाधर्म बुझियोचर हुआ है और वे उसके प्रति अपेक्षाकृत अधिक आकृष्ट हुए हैं। वस्तुतः वे व्यक्ति के प्रसिद्धि को ही समाज पर निर्भर समझते है। गुरुता की स्थिति में ही व्यक्ति को अपने प्रसार के लिए समुचित अवसर मिल सकता है। यह गुरुता समाज की सुबुद्ध स्थिति में ही सम्भव हो सकती है। समाज की अज्ञानता में ही व्यक्ति जनपता कृतता तथा कृतता है।

४ "सत्य क उम रूप को उन्होंने स्वीकार मात्र में नहीं बल्कि निप क मात्र में देखा जो अन्तिम सम्पन्न करने क लिए स्थिति में परिवर्तन उपस्थान करता है। अर्थात् जीवन में प्रगतिपथ की सत्यता को वे अंगीकार नहीं कर सके। यानी वह स्वधर्मनिष्ठ से अधिक निरामतवादी थे।

अन्तिम शब्द प्राक्कथनक है। शुक्लजी किसी मतवाद को साहित्य में लागू उचित नहीं समझते हैं। वे प्रकृति क भी विरोधी नहीं हैं। ही प्रकृति क स्वरूप क साधनों के सम्बन्ध में मठमठ माना जा सकता है। हिन्दी साहित्य की अन्तिम की दिशा में वे प्रत्येक सत्य-साधन को अपनाये में संकोच नहीं करते ह परन्तु वे लचीलता को ही प्रगति क विकास मानना नहीं चाहते है। वे भड़ी मकल क विरोधी थे परन्तु स्वतन्त्र प्रगति और विकास के याचक प्रत्येक सत्य को ग्रहण करने में उन्हें कभी संकोच नहीं हुआ। उन्होंने अपनी प्रगतिशीलता का रस सिद्धांत की लचील व्याख्या में प्रकृति के विनाश सम्बन्धी मायताओं के प्रकाशन में परिचय दिया है। वे रस

पद्धति का प्राबुद्धिक मनीषिज्ञान धारि की महापता से संस्कार व प्रकाश करना चाहत है। वे हिन्दी साहित्य की प्रगति रु मन्त्रे परिभाषा है।

२ "पारिवारिक धर्म से घाय धर एक नागरिक धर्म की प्रावश्यकता है जिसमें व्यक्ति समूह समाज क प्रति धपन को बापी धनुमध कर धौर यह परिवार धम की ही प्रगास्ति है। समका स्वीकार इनके मता से नहीं मिसता। धर्यान् प्राबुद्धिक समाजवादी विचारो म आ स्य है उमे व न धपता सध।"

धुक्मत्री का मोक्षधम ध्यानक है उमम नागरिक धम धुमा दिसा है। उग्होति धुह धर्म से समाज धम समाज धम मोक्ष धर्म धीर माक धर्म न भी अष्ट विरधधम की स्वीहृति की है। नागरिक धम की धम्बोहृति का प्रथम इस ध्यापक धम की स्वीहृति क रहन उपस्थित ही नहीं होता। यदि प्राबुद्धिक समाजवादी विचारो का पूर्णतया उन्मेष धम्भ की की रचनाधर्मो में नहीं मिसता है ता उमम विधेय धापति नहीं धानी चाहिए क्योंकि उनका धात्र विधायनया साहित्यिक ही रहा है, सामाजिक या राजनीतिक नहीं। धिमी लेखक में मधार क मभा पध ममान धर मे प्रतिविम्बित नहीं हा मधत।

१ "उग्होति इस धर्म मे वर्तमान का हित धिया कि धपनी परम्परा न उम विछड़न न धेन में धपनी धक्ति नपाई धर्यान् साहित्य म धनुमर धापी धौर उन्धू गत मत्तो को उग्होति उधरन न रोधा।

यह मुक्मत्री क महत्त्व की धपर्य धनुमुति है। उनका प्रणिष्ठा का धरी धारण है कि उग्होति स्वतन्त्र प्रगति क विगापी मन्त्रा को विधाम-धध म बाधक बनन नहीं दिया है।

७ "वर्तमान का धविष्य की धोर धडने में उनमे प्ररणा नहीं मिसी है।

धविष्य की धार धडने के सिध धक्मत्री ने धपना मारा धौद्धिध धान धिया है। उनके विधेय की उलोचना ही इस धान का प्रमाध है। धननन की धापाधना न धविष्य के धंग्य एवं स्वस्य स्वतन्त्र के धीत्र उधिरित

किये हैं। इनका अन्वेषण हमारा कर्तव्य है।

८ "उनके प्रतिपादन और सञ्जन-मन्त्रन की दृढ़ता पूर्णक स्वीकृति अपने मतबाह से घाती थी। अतीत का विवेचन और Intupritation भी उन्होंने उपसुद्धम किया।

प्रत्येक सत्यान्वेषी तथा सरयाप्रही को बुझना उसके अपने अन्तःकरण से ही होती है। वह आत्मदर्शी होता है परमुखापेक्षी नहीं। मानव स्वभाव से ही अपनी अन्तर्दृष्टि के माध्यम से मगार का—बाहे बर्तमान हो बाहे अतात हो—विवक्षेपण करता है। मुसलजी इसक अपबाह नहीं है। वे अपने विषय का प्रतिपादन और मन्त्रन अत्य पक्ष का सञ्जन पूर्ण बुझता स करत है और वह बुझता उग्रे उनकी अपनी आरणाओं से ही प्राप्त हाती है।

९ 'अपने और साहित्य-गल्प के बीच उन्होंने एक प्रकार का बौद्धिक हेतुबाह का अन्तर रखा अर्थात् अपने को उन्होंने साहित्यिक होते-होठ अथावा और हठात् अपने को साहित्याभोषक बनाया। आलोचना में भी वे आभोषक से अर्जक नहीं।

मुसलजी की विवेचता उनके आचार्यत्व से है। इसी आचार्यत्व ने उनकी साहित्यिक प्रतिभा को कृच्छित किया है। मुसलजात्मक प्रतिभा अपने विकास के लिए समुचित अवसर प्राप्त नहीं कर सकी। यह भी सरय है कि उनकी आलोचना में बौद्धिक चिन्तन की अधिकता है।

श्री मन्त्रदुलारे बाजपेयी—बाजपेयी जी समीक्षा में सामाजिक सम्पर्क की अर्जा करते हैं और साथ ही रचनािता की मन स्थिति का पता लगाना भी आकरक समझते हैं। उग्रे मुसलजी की समीक्षा-पद्धति में वे दोनों गुण उपलब्ध हुए हैं। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि मुसलजी में उल्बकोटि की अमजता थी और उन्होंने हिन्दी समीक्षा में अम्लितकारी परिवर्तन किया। वे नये युग के विषायक थे।

बाजपेयी जी ने मुसलजी की आलोचना पद्धति में कुछ अटकने वाली बातों का भी अकेन किया है। वे कहते हैं कि मुसलजी ने अपने काव्य मान दृष्टों में कुछ अ्यक्तिगत अर्थों को समाविष्ट कर लिया है। अर्थात् लमा

सोचक की अपेक्षित तटस्थता उतुम कम है। इसी कारण उन्होंने प्रथम काव्य को मुक्तक काव्य की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान किया और निर्गुण-समुग्य बाराणों में स सुगुण धारा की अपेक्षाकृत अधिक प्रशंसा की है। तटस्थता के प्रभाव के ही कारण उन्होंने मध्यकालीन वैष्णवधर्म की प्रत्यक्ष भूमि को समझने में सहायता नहीं पहुँचाई। इसके प्रतिरिक्त उन्होंने प्राचीन काव्य का दार्शनिक धर्म का साहित्यिक मूल्य निर्धारण करने में सफलता प्राप्त की। इसके प्रतिरिक्त उनका सारा चिन्तन विवेकीयुग की व्यक्तिगत साधारण और धार्मिक-समुग्य नीतिमत्ता पर स्थित है। समाजशास्त्र संस्कृति और मनोविज्ञान की बस्तु-मुक्त विवेचना उन्होंने नहीं की। प्रकृति विषयक उनका धारणा भारतीय धार्मिक धारणा की अपेक्षा प्राथमिक है। उनका काव्य विवेचन भी प्रथम उच्चतर और जीवन मूल्य के ध्यान में ही का प्रारम्भ करने के कारण सर्वांगीण और तटस्थ नहीं कहा जा सकता। इसी कारणों के कारण बाबुलजी ने मुक्तक की को हिन्दी साहित्य समीक्षा का 'बासाव्य' कहा है। उनका युग समाप्त हो चुका है। नये युग के साथ नया साहित्य निर्मित हो रहा है। अतएव हिन्दी साहित्य समीक्षा को भी नए प्रमाण की आवश्यकता है। मुक्तक की बस्तुतः हम नवीन युग के साहित्य का मूल्य नहीं कर सकते।

डाक्टर लोरेण्ड—धार्मिक समीक्षाओं में ही लोरेण्डजी का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने 'धार्मिक मुक्तक' के दो काव्याभिमान शीर्षक संग्रह में मुक्तक के सम्बन्ध में अपने धार्मिक चिन्तन किये हैं। काव्य में धार्मिकता का दार्शनिक निष्कर्ष में मुक्तक में निम्न है कि काव्य में समीक्षा का धार्मिक में रहनी है। बाहे वह योग्य और उपयुक्त हो बाहे धार्मिक शीर्षक धनुषमुक्तक। इस कथन में सीधा यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे धार्मिक को ही काव्य मानते हैं। धार्मिक व सधार्मिक को नहीं। इस पर डाक्टर लोरेण्ड का यह धार्मिक है कि इस कथन में मुक्तक की समीक्षा का ही सीधा धार्मिक प्रतीत होने है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी दुर्बल शक्ति में उन पर धार्मिकता का भारी भार का अनुभव हुआ है। धार्मिक काव्य में समीक्षा का

प्रतिपाद्य नहीं माना जा सकता है। व्यंग्यार्थ में ही माना जाना चाहिए। सङ्घर्ष में भी नहीं क्योंकि वह भी वाक्यार्थ की तरह माध्यम मात्र है। रमणीयता का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रस के साथ है और रस कथित नहीं हो सकता है। सुकलजी के उक्त कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे सङ्घर्ष और व्यंग्यार्थ को अनुपपन्न धर्म को रूपपन्न करने का साधन मानते हैं परन्तु वास्तव में स्थिति इसके विपरीत है। वाक्यान्वय स्वयं ही अपने अमलकारों के साथ व्यंग्य रस का साधन या माध्यम है। सुकलजी का यह कथन कि वाक्यार्थ ही काव्य होता है व्यंग्यार्थ व सङ्घर्ष नहीं एक हलका सा विद्योत्तर भ्रमण है।

इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि सुकलजी सधना और व्यंग्यता को प्रतिष्ठा के ही प्राप्ति मानते हैं अतः वे उसे ही काव्यत्व का आधार प्रतिपाद्य करते हैं। उक्त कथन से प्रतिष्ठा द्वारा संकेतित वाक्यार्थ के महत्त्व का ही अकेल ज्ञान उचित है। सुकलजी ने अमलकार के विरोध के कारण प्रतिष्ठा को महत्त्व प्रदान नहीं किया। उनके सिद्धान्त का विस्मरण करने के उपरान्त हम यही समझते हैं कि वे भावभूय अमलकार व विरोधी व। भावावेश के कारण जो संकेत में बहता घाती है उसके वे विरोधी न थे। अनुपपन्न धर्म नाम शब्द का प्रयोग प्रकारान्तर से बहता ही है। उसमें काव्यत्व का प्रतिष्ठा मान कर वे इसी बहता का समर्पण करते हैं।

सुकलजी ने 'कथिता क्या है' शीर्षक निबन्ध में यह लिखा है कि मोरप का प्रतिष्ठावादी हमारे यहाँ के पुराने अज्ञानवाद का ही नया रूप या विभायती उत्थान है। पी. गेन्टजी का इस उक्ति पर सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि इस उक्ति से यह साधारण होता है कि भारतीय अज्ञानवाद के प्रवर्तक कुन्तक का प्रतिष्ठावादी अर्थ ही है। वस्तुतः यह बात नहीं है। इन दोनों प्राचाओं का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। अर्थ ही आत्मवादी शक्ति है और कुन्तक साहित्य नीमासक है। इसके अतिरिक्त इन दोनों में वर्णन साम्य होने पर वैयर्थ इतना स्पष्ट है कि इन दोनों के बीचों को एक नहीं कहा जा सकता है।

इसके सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि मुक्तजी ने इन दोनों बावों की पूर्ण एकता का प्रतिपादन नहीं किया है। परन्तु मौलिक समता का संकेत मान लिया है। मुक्तजी का उद्देश्य स्पष्ट रूप से इन दोनों बावों की मूल प्रकृति के प्रति धार्मिक विरोध प्रकट करना ही है। श्री अयेन्द्रजी के कथनानुसार हम मुक्तजी के उक्त कथन को अर्थवाद के रूप में ग्रहण कर सकते हैं।

श्री नबन्धजी ने आचार्य मुक्त तथा धार्मिक ए० रिचर्ड्स का तुलनात्मक विश्लेषण किया है। वे यह मानते हैं कि मुक्तजी की मनोभूमि पर रिचर्ड्स का सीधा प्रभाव नहीं पड़ा है फिर भी उनके धारण पथ की स्थापना में उसने सामयिक सहायता प्रदान मिली है। इन दोनों में साम्य और वैषम्य की विश्लेषणा करने के अन्तर्गत श्री नबन्धजी ने मुक्तजी के सम्बन्ध में धार्मिक आस्था यह बनाई है कि मुक्तजी ने साफ पथ को धारण नही किया और उस की एकान्त साधना उन्हें कठिनता में ही प्राप्त हो सकनी थी। इसी लिए वे हिन्दी के उदीयमान कवियों के साथ समझौता न कर सक। वे समय के साथ धारण नहीं बढ़ सके। बाबे के धर्मिक आस्था और जर्मन धार्मिकों के सीधे-सीधे आस्था की विषयताओं का ग्रहण करने में वे असमर्थ रहे परन्तु धारण में सम आस्था की शक्ति और सम्भावनाओं की वे निरन्तर धारण-धीन करते रहे और इससे परिणामस्वरूप भारतीय धर्म आस्था का जो मनाई जा निक विश्लेषण उन्होंने प्रस्तुत किया वह भारत के आस्था-साहित्य को जगत् का अमूल्य उपहार है। मुक्तजी ने धारण में जो प्रभावित नहीं किया पाश्चात्य विचार है।

डाक्टर वैशराज—श्री देवराजजी की दृष्टि में आचार्य मुक्त रमानु मूर्ति के औद्योगिक विश्लेषण में सश्रम थे। उनमें दृष्टियों में सम-ग्रहण की शक्ति थी क्योंकि साक्षात् में विद्यमान थी परन्तु उनमें दृष्टियों के मूलांकन का उचित दृष्टिकोण बनाने लायक चिन्तन शक्ति न थी। वे मूलांकन के उक्त धारणों का आधिकार नहीं कर सक इसीलिए वे अथवा उक्तकोटि के साहित्य-धीमात्र न थे। वे जहाँ रमानुमूर्ति के विशिष्ट व्यवहार कर प्रका

भारत खण्ड-सिद्धान्तों का प्राक्किार कर सकते हैं वही खण्ड-सिद्धान्तों का एक महा-सिद्धान्त के रूप में समन्वय नहीं कर पाते हैं। इस पर भी श्री देवराज जी मुखर्जी के उपकार का समझते हैं। वे कहते हैं कि उनके द्वारा प्रतिपादित खण्ड सिद्धान्त भी पूर्ण साहित्य शास्त्र के निर्माण के लिए परम उपयोगी हैं। मुखर्जी की स्वच्छ दृष्टि बिरता देना सही है उसके लिए सविष्य का साहित्य मात्र उनका फिर नहीं रहेगा।

डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी—द्विवेदी जी की दृष्टि में प्राचार्य मुखर्जी नवीन और प्राचीन ज्ञान के वास्तविक संपर्ककारी थे। वे हिन्दी के गौरव थे। द्विवेदीजी कहते हैं कि कुछ लोगो को भ्रम है कि वे नए प्रयोग करने वाले तदुप साहित्यिकों के प्रति सहानुभूतिमयी दृष्टि नहीं रखते थे। ऐसी बात नहीं। वस्तुतः वे कुछ खास प्रकार के वाक्य विचारों के पोषक थे उसके बाहर जाने जाने को वे पसन्द नहीं करते थे। फिर चाहे वह नवीन हो या प्राचीन। द्विवेदीजी मुखर्जी में ससाधारण प्रतिभा स्वीकार करते हैं और हिन्दी साहित्य पर उनका घमिष्ट प्रभाव मानते हैं।

श्री मुनाबराज—श्री मुनाबराजजी कहते हैं कि प्राचार्य मुखर्जी अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ रहते हुए भी हठधर्मी और अहङ्कर न थे। वे मुक्तप्राहक थे। वही उनकी महानता थी। बुद्धि और हृदय के स्पृहणीय संयोग के कारण गुरुजी के निबन्ध विषय प्रचलन होते हुए भी उनके व्यक्तित्व को धामा से घुनिमान दिखाई पड़ते हैं।

श्री बिजयेश्वर स्नातक—श्री स्नातक कहते हैं कि मुखर्जी कोरे प्रामोचक का समीलक ही नहीं बरन् उन्वकोटि के शैली-निर्माता निबन्धकार, विद्व-इतिहास लेखक मातृक कवि समथ अनुवादक सफल अध्यापक और युगत सम्पादक भी थे। उन्होंने साहित्य के जिस घण को श्री पपनी—सिद्धि से स्पष्ट किया उन्व पपनी विश्वधर—प्रतिभा—वे—कई—बुना बमका दिया। हिन्दी में मुखर्जी की सिष्य मण्डली योम्बना और संख्या दोनों ही दृष्टियों से नबने बड़ी है। मुखर्जी ने अध्यापन-अध्यापन की जो परम्परा अपने पीछे छोड़ी है उसमें उनकी प्रतिभा का पुन सर्वथ दृष्टिकथ होता है।

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में युक्तजी की विरोधी या अविरोधी समीक्षा ही इस बात का प्रमाण है कि उनका साहित्यिक व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था। विरोधी समीक्षक भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में उन्हें अल्पसंख्यक स्वाग बेने के लिए पूर्णतया सहमत कहे जा सकते हैं। धार्मिक समीक्षक युक्तजी के अमूर्त कार्य को पूर्ण करके भविष्य में हिन्दी में सर्वांगपूर्ण एवं सार्वभौम साहित्य सिद्धान्तों का निर्धारण करने में सफल हो सकते हैं। अतः ही हिन्दी साहित्य के गगन में आकाश युक्त की परिभा का सूर्य घनत धपन आधोक्त का प्रसार करता रहेगा और उनसे यह साहित्य-भूमण्डल अमममता रहा।

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में सुबलजी की विरोधी या अविरोधी समीक्षा ही इस बात का प्रमाण है कि उनका साहित्यिक व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था। विरोधी समीक्षक भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में उन्हें अत्युच्च स्थान देने के लिए पूर्णतया सहमत कहे जा सकते हैं। धार्मिक समीक्षक सुबलजी के अपूरे कार्य को पूर्ण करके त्रिविध्य में हिन्दी में सर्वांगपूर्ण एवं सार्वभौम साहित्य सिद्धान्तों का निर्धारण करने में सफल हो सकते हैं। भ्रष्टा है हिन्दी साहित्य के गमन में आचार्य सुबल की मरिचा का सूर्य सतत अपने प्रान्तोक का प्रसार करता रहेगा और उससे यह साहित्य-सूत्रकल धममगाता रहेगा।
